लोकधर्मी नाट्य-परम्परा

लोकधर्मी नाट्य-परम्परा

*

डॉ. श्याम परमार

★



हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी—१
कलकत्ता—७

प्रथम संस्करण
मार्च १९५९



मूल्य पाँच रुपये



प्रकाशक हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बक्स नं० ७० ज्ञानवापी, वाराणसी—१

मुद्रक विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि० मानमन्दिर वाराणसी-१

अनुक्रम





जिस समय 'नाट्य-शास्त्र' की रचना हुई, उस काल में कृषि-सभ्यता का विस्तार हो रहा था। ग्राम बस रहे थे, लोगों में जातीयता का उदय और ग्राम-धर्म का विकास हो रहा था। विद्वानों का मत है कि उपलब्ध 'नाट्य शास्त्र' वस्तुतः एक व्यक्ति की रचना नहीं, पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का सुसम्बद्ध सम्पादन है। अतएव नाट्यवेद की उत्पत्ति की कथा को भी 'नाट्य-शास्त्र' में पूर्ववर्ती विचारों से सम्भवतः ग्रहण किया गया हो। यह कथा ईसा की चौथी पाँचवीं शताब्दी तक बराबर उद्धृत होती रही। 'नाट्य-शास्त्र' के निर्माण की आवश्यकता तत्कालीन समाज को देखते हुए जरूरी थी, और सामाजिक पुष्टि के लिये नाट्य को वेद की प्रतिष्ठा देना अपेक्षित था। उक्त कथानकों से हमारे समक्ष नाटकों की उत्पत्ति और विकास का रूपक-परक अर्थ स्पष्ट हो जाता है और हम इससे निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि—(१) आवश्यकता ने नाटक को जन्म दिया, (२) यह आवश्यकता परिस्थिति-जन्य थी (जिसका आभास तत्कालीन समाज के व्यवस्थापकों को हुआ था और उन्होंने ऐसे साधन की अपेक्षा की जिसमें सभी वर्ग के लोगों का सहयोग हो), तथा (३) देवों और असुरों का संघर्ष वस्तुतः वर्ग चेतना का द्योतक था। नाटक के विकास क्रम में संघर्ष को चित्रित करते हुए सभी के दुःख-सुख का विवेचन भी नाटक जैसे प्रदर्शन में ही यह अभीष्ट प्रतीत हुआ—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख-दुःख समन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥

नाटक की उत्पत्ति-सम्बन्धी अन्य मत भी इस चर्चा के सन्दर्भ में विचारणीय हैं। डाक्टर रिजवे का मत है कि नाटक की उत्पत्ति मृतक वीरों की पूजा से हुई। मृतक वीरों की आत्मा को प्रसन्न करने के लिये उन्हीं के चरित्र का नाटकीय अभिनय श्रद्धापूर्वक आरम्भ किया गया। डाक्टर पिशल के अनुसार कठपुतलियों से नाटक की उत्पत्ति हुई। यह मान्यता प्राचीन होकर भी विचारणीय है। राजस्थान मारवाड़ मालवा, दक्षिण भारत आदि प्रान्तों में कठपुतलियों के खेल और फिर पुतलियों की लोकप्रिय परम्परा का उपलब्ध स्वरूप उल्लेखनीय है। कतिपय भारतीय ग्रन्थों में कठपुतलियों के नृत्यकौशल भी इस बात को पुष्ट करते हैं। छाया नाटकों से भी संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया गया। परिशिष्ट में इस विषय पर प्रसंग से विचार किया गया है। वेदों में संवादात्मक ऋचाओं से नाटक की उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ने पर भारतीय मत नाट्य-शास्त्र के और भी पीछे चला जाता है। ऋग्वेद में लगभग ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें नाटकीय संवाद के रूप में निश्चय ही स्वीकार किया जा सकता है। वेद पाठ की अपनी विशेष शैली में इन्हीं संवादों का पाठ होता रहा है। मैक्समूलर का अनुमान है कि सम्भवतः ऐसे संवाद दो भिन्न दलों द्वारा सामूहिक रूप से गाये जाते होंगे। प्रो० लेवी ने भी यही मत बाद में स्वीकार किया है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि सामवेद और अथर्ववेद की ऋचायें तथा ऋग्वेद के संवाद नृत्य नाट्य और संगीत की क्रियाभिव्यक्ति हैं। वेदकालीन जन समुदाय इन विधियों से परिचित था। ऋचाओं के अध्ययन से कहीं-कहीं स्वगत भाषण की रूपरेखा भी उपलब्ध होती है। ऋतु उत्सवों में नृत्य-नाट्य के प्रमाण खोजने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक युग में यह परम्परा स्वाभाविक रूप ले रही है। देवताओं को प्रसन्न करने अथवा तांत्रिक परम्पराओं की साधना के हेतु नृत्य समाज का अनुष्ठानिक अंग रहा है। नाटक का मूल स्रोत वस्तुतः ऐसे नृत्यों के हाव भाव में अंकित

वस्तु-तत्त्व के भीतर लक्षित होता है।[1] नाटक का इस प्रकार नृत्य से सम्बन्ध लोक-धर्मी नाट्य परम्परा का द्योतक है। बंगाल की यात्राएँ इस परम्परा की अभी भी रक्षा कर रही हैं। कीथ के अनुसार वैदिक ऋचाएँ नाट्य-कला के प्रारंभिक सूत्रों का प्रतिनिधित्व करती हैं। आदिवासियों में प्रायः अन्न अथवा शराब पीने का प्रयोजन फसल पकने के बावजूद किया जाता है। यह उत्सव का रूप धारण कर लेता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ जिनमें नाटक के संवादों का रूप निहित है, सम्भवतः फसल पकने के हेतु किये जाने वाले अनुष्ठानों के गीत बन गयी होंगी। कीथ ने 'कोरा' जाति के महोत्सव पर उल्लेख करते हुए इस सन्दर्भ में सोमपान[2] के समय इन्द्र के मुख से कहे जानेवाले मन्त्र को स्वगत कथन का स्वरूप बताया है। पुरोहित जिसमें इन्द्र का रूप धारण कर सोम की शक्ति का बखान करता है। कोरावों में एक व्यक्ति मदोन्मत्त देवता का अभिनय करता है और दूसरा गीत गाता है। नाटक का यह आदिम रूप आज भी कतिपय वनवासियों का महोत्सव अथवा अनुष्ठानिक आचारों में दृष्टिगोचर होता है। वर्षा के लिये किये जाने-वाले टोटकों को अथवा विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर अनेक जातियों में प्रचलित कुछ ऐसे आचार सरलतापूर्वक अभिनय की कोटि में स्थान पा सकते हैं। उनमें भी गीतों को पृष्ठ में गाते रहने का प्रयास उपलब्ध है।

प्रो० विण्डिश, ओल्डनबर्ग तथा पिशेल तीनों के मत से वैदिक ऋचाएँ नाटक के गद्यात्मक अंश हैं जिन्हें सुरक्षित रखा जा सका। इनके मध्य में संभवतः पद्यात्मक अंश रहे होंगे, जिन्हें सम्हाले रखना कदाचित् उपयुक्त नहीं समझा गया हो। इसी मत को पुष्ट करने के लिये कुछ विद्वानों ने वैदिक ऋचाओं को वीरगीत अथवा कीर्तिगीत बताने का प्रयत्न भी किया, किन्तु ऐसी सभी बातें आलोचना का विषय बनी हैं।

सामवेद के मंत्रों को भी नाटक से सम्बन्धित स्वीकार किया जा सकता है। अनुष्ठानिक नृत्यों की परम्परा के प्रमाणों का अभाव नहीं है। ऐसे नृत्यों में तद्विधिक मुद्राओं का प्रचलन बना रहा है। नाटक की उत्पत्ति का बहुत कुछ आधार यही सामग्री है। भारतीय नाटकों की परम्परा में नृत्य का सम्बन्ध सुस्पष्ट है। आगे चल कर इन्हीं नृत्य शैली में संवादों का प्रवेश नृत्य-नाटकों की उत्पत्ति का कारण हुआ। यों तो नाटकों की प्राचीनता में संदेह नहीं। ईसा की तीन शताब्दी पूर्व रामगढ़ (सरगुजा) की पहाड़ी में अवस्थित 'सीताबेंगा' और 'जोगीमारा' की गुफाओं में नाटक का पुराना प्रेक्षागृह बना हुआ है। सीताबेंगा में पाये गये एक शिलालेख में उस समय के मनोरंजन का मामूली-सा चित्र मिलता है "दुले वसंतिया। हसावानुभूते। कुदस्पीतं एवं अलंग (त)" पंक्ति का अर्थ सम्भवतः इस प्रकार है कि "वसन्त पूर्णिमा को दोल यात्रा उत्सव सम्बन्धी गीत गाये जाते हैं और हँसी के फौवारे छूटते हैं। गले में चमेली की माला डाले लोग आनन्द से फूले नहीं समाते।" वस्तुतः मनोरंजन की दृष्टि से नाटक का प्रचार सदैव बना रहा है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' की रचना और विभिन्न विधियों की सुविस्तृत योजना यह बतलाते हैं कि भरत के पूर्व भारत में नाटकों की परम्परा सभी वर्गों में काफी अच्छे ढंग से प्रचलित रही होगी। भरत ने उनका अध्ययन कर सुव्यवस्थित शास्त्र का निर्माण किया, जिससे कि लोक प्रचलित मनोरंजन की स्वच्छन्दता और बिखरी हुई पद्धतियों में सुधार होकर एक सूत्र-बद्धता आ सके। उक्त मतों पर विस्तार से चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं किन्तु संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सभी मतों का

---

१ कीथ दी संस्कृत ड्रामा पृ० १७/१९२४। २. वही पृ० १८।

परोक्ष रूप से नाटक की उत्पत्ति के सूत्रों से कहीं अधिक और कहीं कम मात्रा में जुड़े हुए हैं। यही ध्यान देने की बात है कि कृषि-जीवन के प्रारम्भ होते ही अवकाश के क्षणों में मानव ने अपने मनोरंजन के लिये अनेक साधनों का आविष्कार किया। कुछ साधन समाज के प्रिय विषय बन कर परम्परा के रूप में प्रचलित हो गये। आज भी यही परम्पराएँ हमें नाटक की उत्पत्ति के किसी निश्चित की ओर ले जाने के लिये बाध्य करती हैं। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि लौकिक कार्यों में नाटक की अभिनय सामग्री (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्) और धार्मिक कार्यों में पूर्व पुरुषों की कथाएँ मिलती हैं। नाटक की उत्पत्ति में यह वस्तुएँ आगे-पीछे होकर योग प्रदान करती हैं। जिज्ञासा-जन्य प्रयोग और सत्प्रयत्नों ने नाटक में प्राण प्रतिष्ठा की। भरत के पूर्व नाटक का लोक-धर्मी रूप न रहा हो, यह असम्भव है। यद्यपि यह 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट परिलक्षित नहीं हुआ, किन्तु उत्पत्ति सम्बन्धी जो रूपक कथाएँ प्रारम्भ में दी गई हैं, वे मानव के कृषि-युग की सूचक हैं। जब कि नाटक और निकटवर्ती देशों में अनेक घुमन्तू जातियाँ बस चुकी थीं और जहाँ एक बार बसावट हो जाती है, वहाँ मनोरंजन के साधन अपने आप उत्पन्न होते हैं। नाटक इसी तरह सहज उत्पन्न काव्य एवं दृश्य योजना है जो बाद में क्रमशः नियमबद्ध होती गई। इस क्रम में लोकधर्मी और साहित्यिक ये दोनों भिन्न नाट्य परम्पराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित हुईं। प्रारम्भ में यह भेद न था बल्कि इसे पूर्ण लोकोन्मुखी बनाने के लिये सभी वर्णों का सहयोग अपेक्षित हुआ था। इसीलिये पंचमवेद का रूपक सम्भवतः एक सुसंगत 'प्रयोग' है, यह कहना अनुचित न होगा।

: २ :

हर्ष के पश्चात् (७ वीं शताब्दी) कुछ शताब्दियाँ ऐसी बीतीं कि प्रत्येक प्रान्त एक-दूसरे के संपर्क से वंचित हो गये। फलस्वरूप मनोरंजन के साधनों का सर्व-सामान्य रूप विच्छ खलित हो गया और लौकिक साधन अपने-अपने ढंग से नाना स्थानों में पनपने लगे। तात्त्विक दृष्टि से लौकिक भावनाओं में समानता होते हुए भी उन साधनों में रूप-भिन्नता उत्पन्न हुई। कालान्तर में ये ही साधन रूढ़ हो कर परम्परा की थाती बन गये।

मध्ययुग की परिस्थितियों का अध्ययन करने से यह विदित होगा कि भक्तिपरक आन्दोलनों ने नाटक की उस परम्परा को जो राजाश्रय के अभाव में मुरझा गई थी और यह परम्परा जो साधारण जन में उद्देश्यविहीन होकर नष्ट हो रही थी एक साथ जीवित कर दिया। कृष्ण-लीला की भावोन्मेषकारिणी विविधता राज-दरबारों और जन-साधारण के मंचों पर एक साथ प्रतिफलित हुई। भागवत के दशम् स्कन्ध की कथाएँ अभिनय का सहारा पाकर लोक-जीवन की अभिव्यक्ति के स्पर्श से परम्परागत नाट्य-शैली के पुनरुत्थान की अधिकारिणी हुई। उधर राम के जीवन का अभिनय रामभक्ति शाखा की प्रेरणा से प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार कालावधि में 'रासलीला' और 'राम लीला' का लोकधर्मी नाट्य-परम्पराएँ विकसित हुईं। हिन्दी नाटकों के विकास की पृष्ठभूमि में मध्यकाल की इस पीठिका का महत्त्वपूर्ण योग है।

किन्तु यहीं मुसलमानों ने भारतीय संस्कृति को काफी नुकसान पहुँचाया और उन्होंने नाटक के विकास में बाधाएँ उपस्थित कीं। ठीक इसी समय गुजरात, बंगाल, असाम,

बंगाल और बिहार तथा निकटवर्ती मिथिला में वैष्णवों के रंगमंच पर अनेक नाटक खेले गये जो आज भी उपलब्ध हैं। इतिहास लेखकों का मत है कि "उस समय भी (मध्यकाल) मुसलमानी प्रभाव से दूर दक्षिण में संस्कृत नाटकों की रचना और अभिनय कला का प्रचार बराबर बना रहा। ऐसे स्थलों में जहाँ मुसलमानी प्रभाव विशेष था उच्च श्रेणी के नाट्य-साहित्य और अभिनय-कला का पतन हो गया। केवल गाँवों में रूपक के कुछ हीन भेदों का प्रचार बना रहा।"[1]

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या संस्कृत के या उच्चश्रेणी के नाटकों का विकारी रूप लोकधर्मी नाटकों में निहित हुआ या लोक-नाटकों की अपनी स्वतंत्र परम्परा ही थी। भाषा की दृष्टि से जो भेद संस्कृत या उच्चवर्ग की भाषा और लोक प्रचलित बोलियों में रहा है वही भेद हमें संस्कृत नाटकों अथवा उच्च कोटि के नाटकों एवं लोकनाट्यों में स्वीकार करना चाहिये। जहाँ लोकनाट्य संस्कृत नाटकों के निकट आये हैं वहाँ वे अवश्य ही नागरिकता से प्रभावित हुए हैं। चूंकि लोकनाट्य लोकधर्मी रहे हैं अतः राजदरबारों का आश्रय उनके लिये संस्कृत नाटकों की तरह अपेक्षित नहीं था। इसलिये आश्रय के अभाव में उच्चकोटि की नाट्य-कला का ह्रास हो गया और लोक-नाट्य कितने ही उत्थान और पतन के बाद भी गाँवों में आज भी बने हुए हैं। हेमेन्द्रनाथदास के अनुसार संस्कृत नाटकों की परम्परा का अन्तिम नाटक रामानन्द राय (जगन्नाथ वल्लभ) का था जो जगन्नाथपुरी के मन्दिर में श्री प्रतापरुद्र की आज्ञा से खेला गया था। यह सम्भव है कि यही अन्तिम नाटक न होगा। अन्य प्रान्तों में इस प्रकार की नागर-परम्परा से संबंधित नाटक तब तक अवश्य ही जीवित रहे होंगे जब तक कि राजाओं का वरदहस्त उन पर रहा। इस परम्परा के ठीक विपरीत लौकिक नाटक (लोकधर्मी) हैं जहाँ आडम्बरों का अभाव और सीमित साधनों में उन्मुक्त अभिव्यक्ति का कौशल विद्यमान है। यही कारण है कि सन्तों ने अपने प्रचार के साधनों में एक साधन नाटक भी माना है। आचार्यों ने लौकिक परम्परा के विरुद्ध जहाँ-तहाँ अपने मत दिये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि लोगों की रुचि लोक-नाटकों की ओर क्रमशः बढ़ रही थी। मध्यकालीन नाटकों में ऐसे अनेक नाटकों का पता लगा है जो भरत की नाट्य रीतियों पर खरे नहीं उतरते। उनमें पद्यात्मक संवादों का आधिक्य और रामायण तथा महाभारत की कथाओं का ग्रामीण पद्धति से विस्तार पाया जाता है। न उनमें पात्र-प्रवेश के संकेत हैं न चरित्र चित्रण की उठान। गति और अभिनय का कौशल भी नदारद। जिसे उत्कृष्ट नाट्य कला कहा जाता है उसका कोई रूप उसमें नहीं है। 'रुक्मिणी हरण' (विद्यापति), 'हनुमन् नाटक' (हृदयराम पंजाबी) 'प्रबोध चन्द्रोदय' (यशवन्तसिंह) 'शकुन्तला' (निवाज कवि), 'देवमाया प्रपंच' (देव) 'माधवानल काम-कन्दला' (आलम) आदि ऐसे ही कुछ नाटक हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में लोक-नाट्यों का प्रभाव पाया जाता है। 'चन्द्रावली' में 'रास' का और 'नीलदेवी' में 'स्वांग' का प्रभाव है (आ० हि० सा० २१२) यद्यपि यह प्रभाव भद्दे पन से भरा हुआ नहीं है। स्वांगों का तो लोगों पर अवश्य असर होता था। डा० सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में मौलाना करीमुल्ला की एक मसनवी (१८८५) का आशय उद्धृत किया है जो इस तरह है —

---

१ डॉ० वार्ष्णेय आधुनिक हिन्दी साहित्य पृष्ठ २२४।

"आज शहर में अजब किस्म के लोग आये हैं जो एक तर्ज़ी अन्दाज़ के साथ नकलें करते हैं, और नगमो-साज़ के साथ शोबदे दिखाते हैं। नाच और नकल में वे उस्ताद हैं, खुशआवाज़ हैं। हमारे इस्तलाह में इनको भगतबाज़ कहते हैं। कभी मर्द कभी औरत और कभी बच्चे की नकल करते हैं, कभी परेशान हाल-सन्यासी बन जाते हैं कभी मुसलमान, कभी काश्मीर का भेस बनाते हैं, और कभी फिरंगी बन जाते हैं। कभी बहुकामी औरत और कभी मर्द की नकल करते हैं, कभी दाढ़ी मुड़ा कर शिव की सूरत में नज़र आते हैं। कभी मुगलों की शक्ल बना लेते हैं, कभी गुलाम बन जाते हैं कभी कच्चा की कुतिया बना लेते हैं जिसका बच्चा बाबा की गोद में रोता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। गरज़ हर कौम का नक्शा दिखाते हैं, और हर तरह के हुनर बनाने से काम लेते हैं।'

रिसाले में जो कुछ देखा वह इसी प्रकार का था। ऐसे अभिनयों से प्रभावित होकर यदि मनमौजी लेखकों ने साधारण कोटि के नाटक लिखे हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सही माने में उन्होंने जन-रुचि को समझ कर जनवादी अभिव्यक्ति के प्रयोग किये थे और उनके ये प्रयोग उस समय सफल हुए।

भारतेन्दु जी ने नाटक के उत्थान के लिये पर्याप्त प्रयत्न किये और यहाँ तक कि उनके प्रयत्न और प्रयोग कुछ अंशों में इसी प्रकार के थे। उनके समय में उत्तर भारत के रास और रामलीला के मंच रूढ़िवादी हो गये थे। उधर बंगाल की 'जात्रा' और मिथिला के 'कीर्तनिया' ने उन्हें प्रेरणा दी। लोक-नाट्यों में कला का जो अभाव उन्हें खटका वह तो एक ओर रहा, पर उन्हें देखते हुए एक राष्ट्रीय मंच की आवश्यकता का उन्होंने तीव्रतम अनुभव किया। इसलिये लोकनाट्यों की पद्यात्मक संवाद शैली एवं अन्य नाट्य पद्धतियों के समन्वय को लोकरुचि के अनुसार प्रदर्शन का विषय बनाते हुए उन्होंने मंच की स्थापना की। इस काम में उन्होंने अपने मित्रों, परिजनों शिष्यों सब को समेटा और अपने समय में अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना कर उनका अभिनय कराया किन्तु उनके प्रयत्न आगे चलकर असफल हुए। पारसी थियेट्रिकल कंपनी के मुकाबले में वे एक सशक्त हिन्दी मंच की स्थापना नहीं कर सके। उनके समय जो लोकनाट्य प्रचलित थे वे वैसे ही चलते ही रहे, पर जिस कार्य को वे अपने समन्वयवादी प्रयोगों से करना चाहते थे उसमें सफल न हो सके। उनके पश्चात् हिन्दी नाटकों की धारा अंग्रेजी के प्रभावापन्न लोकधर्मी नाट्यों के संपर्क से एकदम टूट गई। अब नाटकों में पद्य का प्रयोग यथार्थवादी कसौटी पर कसा जाने लगा। संक्षेप में लोक-नाटकों की तात्त्विकता हिन्दी को छू भर सकी और परे हो गई। कृत्रिम उपायों से मंच की सज्जा और नाटकों के अभिनय में जटिलता का विकास हुआ। रूपसज्जा और बाह्याडम्बरों का प्रभाव बढ़ा। इस तरह सभी वर्ग के मनोरंजन का साधन नाटक वर्ग विशेष की वस्तु बन गया और नाटक की ये दो धाराएँ लोक-नाटक और उच्च वर्ग नाटक, उसी तरह अलग-अलग चलती गईं। इसमें लोकधर्मी परम्परा का ह्रास नहीं हुआ। आज भी गाँवों में मंच अपने ढंग से सजीव हैं। उन पर समय-समय पर अनेक प्रकार के मनोरंजन होते हैं। उनमें शैथिल्य नहीं आया। पुस्तक के आगामी पृष्ठों में इस प्रकार के लोकनाट्यों का विस्तार से परिचय दिया गया है। यहाँ संक्षेप में लोक को प्रभावित करने की क्षमता रखनेवाले इन नाटकों के विषय में कुछ स्थूल बातें जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

३

लोक-नाट्य की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोक-जीवन से उसका चोली-दामन का साथ है। वाह्याडम्बरों और नागरिक सुसंस्कृत चेष्टाओं के बिना लोक के मनोभावों और प्रतिक्रियाओं का स्वतन्त्र विकास केवल लोकधर्मी नाट्यशैली में ही सम्भव है। लोकवार्ता का एक स्वतंत्र अंग होने के कारण लोक-जीवन में इन नाटकों का अपना अनोखा आकर्षण है। शास्त्रीय नाट्य पद्धति की अनभिज्ञता मंच निर्माण की विधिवत् प्रणाली का अभाव एवं कलात्मक कुशलताओं के अभाव में भी नाट्य की इस शैली को अपना अस्तित्व बनाये रखने का पूरा अवसर समाज में मिला। ऋतु-उत्सवों, फसल कट जाने के बाद आनन्द के क्षणों एवं विविध अवसरों पर प्रत्येक प्रान्त में इन नाटकों के प्रदर्शन ग्रामीण क्षेत्रों में देखे जाते हैं। भरत ने सम्भवत इन्हीं प्रदर्शनों को देख कर नाट्य-शास्त्र के चौदहवें अध्याय में लोकधर्मी नाट्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है। यद्यपि संस्कृत में लोकपरक नाट्यों के उदाहरण नहीं मिलते हैं तथापि समवकार, व्यायोग, प्रहसन, भाण,[1] सट्टक आदि प्रकारों को लोक शैली के नाट्य रूपक कहा जा सकता है। 'दशरूपक' में इन पर संक्षेप में चर्चा की गई है। परोक्ष रूप से लोकपरक नाट्य शैली ने संस्कृत के नाटकों को भी प्रभावित किया है जिसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

समाज की विकास परम्परा में ऐसे नाट्य-रूपों का उदय मनोरंजन के लिये हुआ जिसमें सभी वर्ग के लोगों ने हाथ बँटाया। नगरों के उत्थान और राजकीय दरबारों के आकर्षण ने उच्च वर्ग के लिये एक सुसंस्कृत नाट्य परम्परा को जन्म दिया, जिसने प्रेरणा तो इन्हीं लोक-नाट्यों से ग्रहण की पर वेष और आत्मा को भूमि की रज से ऊपर उठा लिया। मध्यकाल में जब नागरिकों के मंच का ह्रास हुआ और नाटक समाज के सीमित क्षेत्र के मनोविनोद और विलास का साधन बन गया तब यही लोक-नाट्य परम्परा गाँवों के जीवन में रस सृष्टि का माध्यम बनी रही। बंगाल, बिहार, उड़ीसा कुछ मालवा राजस्थान सौराष्ट्र महाराष्ट्र आन्ध्र और सुदूर दक्षिणवर्ती प्रान्तों में अपनी-अपनी विशेषताओं से विभूषित लोक-नाट्यों का निरन्तर जयघोष होता रहा है। ये नाटक लोक मानस की अनुकरण-मूलक प्रवृत्तियों कल्पनाओं और क्रियात्मक अभिव्यक्तियों के सहज प्रतिरूप हैं। अभिनय के अनगढ़ स्वरूप और वाणी के स्वाभाविक प्रवाह में परम्परा से पोषित आस्था के दर्शन होते हैं। लोकधर्मांतर्गत विश्वास अनुष्ठानिक एवं लौकिक पूजा-अर्चना समाज की जनगत भावनाओं की एक व्यंजना, प्रचलित धारणाओं कथानकों और सामूहिक नृत्य-गीतों में उपलब्ध उत्साह और उमंग तथा नौटंकी-रासलीला आदि में लोकपरक यह नाट्यप्रणाली विकसित हुई। भाँड, भड़ैत नट और नक्कालों ने लोक शैली के छोटे-छोटे प्रहसनों को जीवित रखा। विवाह उत्सवों के अवसर पर अनेक जातियों में स्त्रियाँ बारात विदा होने पर स्वांग बनाती हैं। चाँदनी रात में बालक-बालिकाएँ परम्परागत अभिनय प्रस्तुत करते हैं। मनोरंजन का ज्यों ही अवसर मिला नहीं कि लोकबुद्धि अनुकरणात्मक प्रवृत्तियों के मनोनुकूल साधन ढूँढ लेती है।

---

१ कीथ दी संस्कृत ड्रामा पृ १४८ १९५४।

गाँवों के किशोर और युवकों में कभी-कभी मौलिक घटनाओं के आधार पर प्रहसन उतारने की होड़-सी लग जाती है। प्राचीनकाल से यही प्रवृत्ति चली आ रही है। मध्यकाल में भक्ति के क्षणों में यह अधिक पनपी और गाँवों में जड़ हो गई। लोक-कथाओं, कहावतों और गीतों की तरह अनेक छोटे-छोटे प्रहसन न मालूम कब से चले आ रहे हैं। राजा-महाराजाओं के दरबार और शौर्य के प्रसंग वीर-पूजा की भावना के साथ परम्परा की थाती बनकर उपलब्ध हैं। नवीन घटनाएं भी इनकी पकड़ से परे नहीं रहीं। 'गार्सां द तासी नामक फ्रांसीसी इतिहासकार ने ऐसे तमाशों का उल्लेख किया है। उसने 'एशियाटिक जर्नल' को विलियम बाइस (नई सोरिज) से एक ऐसा ही प्रहसन अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया।' जिसे जानकारी के लिये यहाँ प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

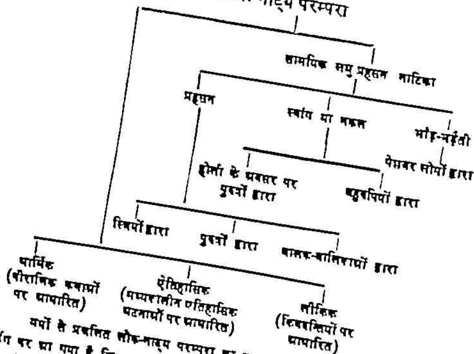
" दृश्य में कचहरी दिखाई गई है जिसमें यूरोपियन मैजिस्ट्रेट बैठे हुए हैं। अभिनेताओं में से एक, गोल टोपी सहित अंग्रेजी वेश-भूषा में सीटी बजाते और अपने बूटों में चाबुक मारते हुए सामने आता है। तब किसी अपराध का दोषी कैदी लाया जाता है। किन्तु जज क्योंकि वह एक नवयुवती भारतीय महिला, जो वहाँ प्रतीत होती है के साथ व्यस्त रहता है ध्यान नहीं देता। जबकि गवाहियाँ सुनी जा रही हैं, वह कनखियों से देखे बिना किसी अन्य बात की ओर ध्यान दिये हुए नहीं रहता और परिणाम के प्रति उदासीन रहता है। अंत में जज का खिदमतगार आता है जो अपने मालिक के पास जा कर और हाथ जोड़ कर, आदरपूर्वक और विनम्रता के साथ, धीमे स्वर में उससे कहता है 'साहिब टिफिन तैयार है'। तुरन्त जज जाने के लिये उठ खड़ा होता है। अदालत के कर्मचारी उससे पूछते हैं कि कैदी का क्या होगा? नवयुवक सिविलियन कमरे के बाहर जाते समय एड़ी के बल घूमते हुए चिल्ला कर कहता है 'गो डैम, फांसी।

तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया ऐसे छोटे लोक परक प्रहसनों में खूब झलकती है। दोषों को चुनकर खिल्लियाँ उड़ाई जाती हैं। हर बात हास्य व्यंग धर्म और राजनीति में उलटती-पुलटती अन्त में सुखान्त स्थिति तक पहुँचती है। स्थूलतः लोकधर्मी नाट्य परम्परा के दो रूप हैं—(१) सामयिक लघु प्रहसन तथा (२) मध्ययुग में आरम्भ होकर आजतक तक अभिनेय गीति-नाट्य।

दूसरी श्रेणी के नाट्यों की कथावस्तु धार्मिक ऐतिहासिक और लौकिक है। राम चरित मानस श्रीमद्भागवत और महाभारत की कथाओं से धार्मिक नाट्यों का ताना-बाना बुना है। ऐतिहासिक कथाएं प्रायः मध्यकाल की हैं और लौकिक कथाएं पूर्णतः लोक प्रचलित परम्परागत कथानकों पर आधारित हैं। अनेक लोक-नाट्य ऐसे हैं जिनकी कथागत सामग्री से प्रायः सभी भिज्ञ होते हैं। इतना होते हुए भी उनके प्रति लोकरुचि तनिक भी शिथिल नहीं होती। वर्षों से लोग उनका अभिनय देखते आ रहे हैं। यही बात ऐतिहासिक और लौकिक कथानकों पर आधारित लोक-नाट्यों पर आरोपित की जा सकती है। लोकधर्मी नाट्य परम्परा के अन्तर्गत आने वाले नाट्य प्रकारों का विभाजन निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है —

---

१ हिन्दुई साहित्य का इतिहास गार्सां द तासी (अनु० डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) पृ० १९-२०।



वर्षों से प्रचलित लोक-नाट्य परम्परा का अपना स्वरूप विकसित हो कर एक ऐसे ढंग पर आ गया है कि उसको रूढ़ कहा जा सकता है। इसलिये उसकी अपनी विशेषतायें भी क्रमशः उभर सकी हैं। लघु नाटिकाओं अथवा प्रहसनों का रूप यद्यपि व्यवस्थित नहीं है पर लम्बे ग्रामीण ढर्रे के नाट्यों में बहुत कुछ व्यवस्थित रूप दिखाई देता है। उनकी गठन त्रिधात्मक है—जिसमें अभिनय नृत्य और गीत तीनों का संयोजित रूप सम्मिलित है। शास्त्र-सम्मत अभिनय के चारों अंगों में 'आहार्य' और सात्विक को छोड़ कर 'आंगिक' और 'वाचिक' का प्राधान्य लोक-नाट्यों में द्रष्टव्य है। संक्षेप में स्थूल विशेषताओं पर निम्न क्रम से विचार किया जा सकता है।

१ भाषा और संवाद

लोक-नाटकों की भाषा काव्यमयी होती है। चूँकि ये नाटक सामूहिक अभिव्यक्ति के साधन हैं और पद्यात्मक संवादों द्वारा समूह की कल्पना-प्रथित भावों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखती है इसलिये इनमें गद्य का प्रभाव कम ही होता है। गद्य का प्रयोग भांड़ों के हास्यात्मक अभिनय अथवा इतिवृत्तात्मक प्रसंगों में किया जाता है। ऐसा गद्य भी प्रायः लयात्मक होता है जहाँ वाक्यों की लड़ियाँ एक दूसरे से गुँथी हुई अनायास से आगे बढ़ती हैं। पद्य-बद्ध संवादों की परम्परा मध्य काल के पूर्व से निरन्तर चली आ रही है। लोक में उसका प्रभाव परम्परा से पोषित होता चला आया है। इसीलिये लोक-मानस पर उसकी छाप दुरूह पड़ती है। प्रायः देखा जाता है कि पद्य-बद्ध संवादों में कथन की बारीकियाँ दर्शकगण उसी भांति पकड़ते हैं जिस तरह सहृदयशील कलाकारों की रचनाओं के अन्तस्थ भाव कुशल पाठकगण ग्रहण करते हैं। ऐसे अनेक अंश इन नाटकों में होते हैं जो लोकगीतों की धुनों में गाये जाते हैं और लोकभाषा की पुरानी शब्द-योजना में अनुगुम्फित होते हैं। इन अंशों में साधारणीकरण की सम्पूर्ण क्षमता

होती है और वे बड़े सुन्दर एवं नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं। भावात्मक वैदिक छन्द की दृष्टि से पद्य का प्राधान्य नाटकों के पुरातनत्व का द्योतक है जो न केवल अपने तक ही सीमित रहा अपितु संस्कृत-नाट्य-परम्परा को भी प्रभावित करने में सफल हुआ। 'चरचा या वाद' के नाम से जो लिखित रचनाएँ मिलती हैं उनमें ऐसे ही पद्यात्मक संवादों का बाहुल्य है। भर्तृहरि (धन और विद्या को वाद), दुलारे कवि (सोने लोहे को झगड़ो या चरचा) आदि ने कुछ प्रयोग किये थे, जिनकी उपयोगिता स्वयं भारतेन्दु ने भी समझी और १५ अक्तूबर और १५ नवम्बर, १८७३ ई० के 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के अंकों में ऐसे दो नाटकीय संवादों को पद्य रूप में प्रकाशित भी किया।

२ कथानक

लोकनाटकों में कथानक जैसा कि बताया गया अधिकतर पौराणिक, ऐतिहासिक और बहुत कम सामाजिक होते हैं। कथानकों के प्रायः दो रूप सर्वत्र मिलते हैं। प्रथम कोटि में उन कथानकों का स्थान है जो मुख्य कथा के सहारे देर रात तक चलते रहते हैं। कथानक के घुमाव कहीं नहीं होते पर छोटे-मोटे प्रसंगों के द्वारा उनमें विस्तार होता जाता है। दूसरी कोटि में लघु प्रहसनों को महत्व दिया जा सकता है। लोकपरक अनुभूति और मनोरंजन का स्वस्थ स्वरूप इनमें उपलब्ध है। इन प्रहसनों को किसी भी समय गाँवों में उत्सव या मनोरंजन के अवसर पर देखा जा सकता है।

लोक नाटकों के कथानकों में एक प्रकार की कसावट का अभाव पाया जाता है। लोकबुद्धि, शिल्प कौशल के परिष्कृत स्तर तक पहुँची हुई नहीं होती। फिर यह स्वरूपों के प्रति धीरे-धीरे दर्शक और अभिनेता दोनों में एक ऐसा समझौता हो जाता है कि बिना कथानक की कसावट के भी कथा अपनी सहज गति से खुलती जाती है। पौराणिक कथानकों के प्रति श्रद्धा और ऐतिहासिक कथानकों के प्रति कुतूहल की भावना इस अभाव का अनुभव नहीं होने देती। जगदीशचन्द्र माथुर के शब्दों में "लोक नाटकों में कथानक प्रायः ढीला-ढाला होता है और पूर्वार्द्ध में जितनी विलम्बित गति से कथा बढ़ती है उत्तरार्द्ध में उतनी ही द्रुत और अस्वाभाविक गति से घटनाओं को ढकेला जाता है। किन्तु इससे अधिक कलात्मक वे लोक-नाट्य होते हैं जिनमें घटनाओं के शिल्प-विधान के स्थान पर जीवन की झाँकियों की लड़ी होती है अथवा जिनमें पौराणिक और धार्मिक कथाओं का पूर्व परिचित दर्शक होता है। जो भी हो, लोक-रंगमंच के दर्शक कथानक के चमत्कारपूर्ण अंश अथवा घटनाओं के कुतूहलपूर्ण उद्घाटन की आशा नहीं करते। वे प्रायः पहले ही से परिचित होते हैं और इसलिये कथा से प्राप्त मनोरंजन उनका लक्ष्य नहीं होता बल्कि रसानुभूति द्वारा प्राप्त तृप्ति।

३ पात्र

लोकनाट्यों के पात्र अपनी विशेषताओं से विभूषित होते हैं। वे प्रायः जाने पहिचाने एवं प्रचलित समाजगत् प्रवृत्तियों के वाहक होते हैं। मूसट बकरा, सौम दुर्मुखी पति ढोंगी साधु कर्कशा औरत आदि ऐसे पात्र होते हैं। पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानकों में भी इन पात्रों की प्रवृत्तियाँ स्थानीय रंगों सहित व्यक्त होती हैं जिनमें काल और स्थान भेद का ध्यान नहीं रखा जाता। राजा रामचन्द्र लंका जाते समय मंच पर चार चक्कर लगा लेते हैं अथवा कुछ जरूरी काम हो तो मंच छोड़ कर फिर उपस्थित हो जाते हैं। पात्रों को अभिनय की पूरी स्वतंत्रता होती है। प्रायः निर्धारित

संवादों के अतिरिक्त प्रतिभाशाली पात्र अपनी ओर से कड़ियाँ जोड़ कर रसवृद्धि करने में योग देते हैं।

पात्र अपनी परम्परागत शैली में मंच पर अभिनय करते हैं किन्तु कोई भी यथार्थवादी शैली अपनाने का प्रयत्न नहीं करता। यहाँ तक कि किस गीत के साथ कैसा अभिनय, संवाद या नृत्य होगा यह तय हो गया है। परिणामतः लोक-नाट्यों का संपूर्ण आनन्द उनकी परम्परागत शैली में निहित है। दर्शकगण तड़क-भड़क की अपेक्षा उसके काव्य पक्ष में रस लेते हैं। चूंकि पात्र से उनका सीधा सम्बन्ध होता है और वे उसके गुण-अवगुण जानते हैं, इसलिये उनके अभिनय को कला की दृष्टि से नहीं अपितु मनोरंजन की दृष्टि से देखते हैं।

४ चरित्र चित्रण

लोकनाट्यों में चरित्र चित्रण का प्रश्न कठिन नहीं है। यों भी परम्परागत नाटकों के चरित्र जाने-पहिचाने होते हैं। उनकी चरित्रगत विशेषताओं को लोकधर्मी मंच पर मोटे रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सूक्ष्म मनोदशाएं संवेदना और मूर्तसूक्ष्म मानस को छूनेवाले तत्त्वों का प्रायः उनमें अभाव होता है। संवादों के माध्यम से जो कुछ व्यक्त किया जाता है उसके अतिरिक्त पात्रों की वेशभूषा और चरित्र की दृष्टि से हावभाव पर ही चित्रण अधिक निर्भर है। स्त्रियों के अभिनय के लिये पुरुष ही वेश धारण करते हैं। अतः स्त्रियों के चरित्र-चित्रण में लालित्य की कमी देखी जाती है। विदूषक अपने हास्य-परिहास से चरित्र की आन्तरिक बातों पर प्रकाश डालता है। नायक की विशेषताओं को प्रकट करने की अपेक्षा उसके द्वारा खलनायक और अन्य पात्रों की विकृतियां अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत की जाती हैं।

५ लोकवार्ता का समावेश

लोक-विश्वास, परम्परागत मान्यताएं, रीति-रिवाज, अभिप्राय आदि लोकधर्मी नाटकों में कथानक, संवाद, संगीत और अभिनय के साथ आबद्ध हैं। आंचलिकता इनमें सोलह आना भरी हुई है। लौकिक आचारों के साथ लोक-भाषा की सम्पत्ति-गीत, कथाएं, मुहावरे और स्थानीय बोलियों के रूपात्मक प्रयोग मंच पर पात्रों द्वारा प्रकट होते हैं। चाहे जैसा भी लोकनाट्य हो, मंच पर वह परम्परा की थाती लेकर ही अवतरित होता है। इसीलिये उसे लोक-विश्वास का आधार मिल जाता है। फलस्वरूप, लोकमन और लोकधर्मी तत्त्वों का उनमें पूर्णतः समावेश हुआ है। प्रायः संवादों के बीच में जहाँ भी प्रसंग आता है लोकगीतों की कड़ियाँ जोड़ी जाती हैं। इसलिये काव्य का गेयरूप इसे प्राप्त है।

६ रूप-योजना

रूप-योजना को लोकपरक नाटकों में स्वांग धारण करने के अर्थ में स्वीकार किया गया है। उसके लिये लम्बे-चौड़े प्रसाधन, अलंकार, भड़कीले वस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। मुर्दासिंगी, गोबर, कोयला, काजल आदि देशी रंजक के साधनों से मुँह पोतकर अथवा मुखौटे लगा कर एवं रंगीन वस्त्र धारण कर पात्र मंच पर प्रवेश करते हैं। पहाड़ी अंचल में चरित्र को व्यक्त करने के लिये—निर्धारित मुखौटे अधिक प्रचलित हैं। मैदानी लोक-नाटकों में यह रिवाज प्रायः नहीं मिलता। स्त्रियों का रूप

धारण करते समय घूंघट में अपनी मूंछ छिपा कर पुरुष पात्र उन सभी अलंकारों को धारण करता है जो बाहर से दिखाई पड़ते हैं।

७ संगीत-योजना

संगीत लोकनाट्यों की शक्ति है। ढोलक, झांझ मजीरे, करताल, चिकारा बांसुरी, हारमोनियम जैसा आदि वाद्यों के अतिरिक्त दूर स्थान के अपने वाद्यों को उसमें स्थान प्राप्त है। ग्रामीण 'आर्केस्ट्रा' के सहारे अभिनेता अपने कंठ का माधुर्य बरसाने का प्रयत्न करता है। 'माच' में ढोलक और सारंगी में नगारे के बिना काम नहीं चलता। संगीत की शैली आंचलिकता से प्रभावित होती है। ऊंची आवाज और वाद्यों की सामूहिक पर जोरदार ध्वनि, दर्शकों और नाटक करनेवालों दोनों को प्रभावित करती है। संवादों के बोल—बिना वाद्य की सहायता से सुनते नहीं। प्रारंभ से ले कर अन्त तक वाद्य बजते रहते हैं।

८ हास्य

'हास्य लोकनाट्यों का प्राण है। विदूषक (या रंगलो) अपने अति नाटकीय हाव-भाव द्वारा जोरदार संवादों से दूर तक बैठे हुए अपार जनसमूह का मन गुदगुदाने में सक्षम होता है। विदूषक को नाटक के किसी भी प्रसंग में प्रवेश करने की स्वतंत्रता है। वह रावण का मजाक उड़ाता है और राम का भी परिहास करता है। वह गहन राजनैतिक परिस्थितियों में हंसाने की सामर्थ्य रखता है। उसका आरम्भ-दोतम तक हास्य का जनक होता है।

९ मंच-व्यवस्था

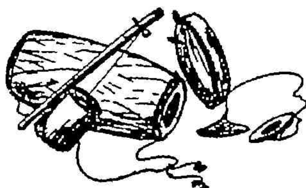
लोक नाटकों के मंच खुले होते हैं। मंदिर के प्रांगण या चौराहे पर किसी ऊंचे स्थान पर बल्लियों के सहारे एक-दो पर्दों की सजावट काफी होती है। पर्दे बदलने की व्यवस्था कभी लोक-नाटकों में नहीं होती। दृश्य की कल्पना 'मोरेलिटी प्लेज' की तरह कर ली जाती है। सभी पात्र अपने उत्तरदायित्व से परिचित होते हैं और सभी को सभी तरह के काम करने पड़ते हैं। एक आन्तरिक उत्साह का तार सबको एक ही दिशा में प्रेरित करता है। लोक-नाटकों की अव्यवस्था भी व्यवस्था ही कहलाती है।

समस्त प्रकार के लोक-नाट्यों का पर्यवेक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि १७वीं शताब्दी के पश्चात् जो स्थिरता इन नाटकों में आई वह जड़ हो गई है। अब समाज के मानसिक स्तर में काफी परिवर्तन हो गया है और आवश्यकता इस बात की है कि लोकनाट्यों के इसी जड़ शिल्प में नये कथानकों और नये भावों का प्रचार किया जाय। इसके लिये प्रचारवेत्ता लेखक अभिनेता संगीतज्ञ और कार्यकर्ता सम्मिलित रूप से इस प्रकार की लोकधर्मी परम्परा का अध्ययन कर नई रचनाएं लिखें और उन्हें ग्रामीण अभिनेताओं से ही प्रारम्भ में अभिनीत करवाएं। शासन का सहयोग तो अपेक्षित है ही, पर सतत प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता भी है। अतः विस्तृत योजना प्रारम्भ में बना कर इस दिशा में गतिशील होना चाहिये। राष्ट्रीय रंगमंच की कल्पना बिना इस देश के लोकधर्मी नाटकों के अध्ययन और सहयोग के साकार नहीं हो सकती।'[1]

---

१ लोकनाट्यों की मंचन विधि पर देखिये—श्री जगदीशचन्द्र माथुर का लेख, परिशिष्ट ग०।

भारतवर्ष का मन ग्रामीण है। उसकी उन्नति उसी के साधनों से की जा सकती है। एक बड़ी दूरी भी उसमें और हममें बनी हुई है वह हमारे उसके रंगमंच में है। वह सचेष्ट है। हमारे मंच उसके सहयोग के बिना सुप्त हैं। हमें इस अन्तर को दूर करना है। इसलिये नये संगठन बनाने होंगे। ग्रामीणों के बसते हुए मंच और भूल जाते हुए भावों में ध्वनि का प्रचार करने के लिये हमें खुले मंच का (ओपन एयर थियेटर) का आन्दोलन सोच-समझ कर, पर दृढ़तापूर्वक आरम्भ करना है। इसके अभाव में हिन्दी का मंच न पनप सकता है और न राष्ट्रीय मंच की स्थापना हो सकती है।




लोकधर्मी
नाट्य परम्परा

उत्तर भारत

रासलीला

'रास' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार के मत उपलब्ध हैं। "रसानां समूहो रासः" के अनुसार रास रसों का समूह है। महारास में कृष्ण के अनेक रूपों की कल्पना और दो गोपियों के मध्य एक-एक कृष्ण की अवस्थिति एक रसपूर्ण आयोजना है। यह भी रास है। रास में नृत्य अभिनय और संगीत द्वारा रस की सृष्टि की जाती है। एक मत के अनुसार जिसमें कृष्ण गोपियों के साथ मण्डलाकार नृत्य करते हैं—रास है। डॉ॰ कंकड़ (Kankad) का कथन है कि "रास शब्द की उत्पत्ति 'रस' से नहीं अपितु 'रास्' से है, जिसका तात्पर्य नृत्य के मध्य में जोर से चिल्ला उठने से है जैसा कि आजकल ग्रामीण लोक-नृत्य अथवा आदिवासी नृत्य में देखा जाता है।"[1] डॉ॰ दशरथ ओझा का मत है—"रास शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है अपितु देशी भाषा का है जो संस्कृत बन गया और देशी नाट्य-कला को जो रास के नाम से प्रसिद्ध थी रास के नाम से ही संस्कृत ग्रन्थों में उद्धृत कर दिया है। रास के देशीय होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि रासो और रासक नाम से राजस्थानी में इसका प्रयोग भी मिलता है और यह रास जिसका विशेष संबंध गोपियों से है आभीरों में प्रचलित कोई देशीय नाटक हो सकता है जो संस्कृत नाटक से अपहृत नहीं माना जा सकता।"[2] रस की परिभाषा व्याख्या का विषय है तो भी 'रस' रास का मूल तत्त्व है। पं॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी वीरगाथा कालीन 'रासो' का संबंध 'रासक' से बताते हैं। शुक्ल जी ने लिखा है—"बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में 'रसायन' शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायन शब्द' से 'रासो' हो गया है।"[3] कदाचित् रस भाव से परिपूरित होने के कारण ही वीरोचित लीलाओं के ग्रन्थ 'रासो' कहलाने लगे हों। हो सकता है उनमें अभिनय का समावेश भी हुआ हो। भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में रासक एक उपरूपक है। उन्होंने रासक के तीन भेद (१) ताल रासक (२) दण्ड रासक और (३) मंडल रासक बताए हैं।

ताल रासक नामस्यम् तद्द्विधा रासकं स्मृतम्।
दण्ड रासकमेकन्तु तथा मंडल रासकम्॥

नाट्य-शास्त्र का समय प्रथम शताब्दी के लगभग स्वीकार किया गया है। अतः प्रथम शताब्दी के पूर्व हमारे यहाँ रास की यह परम्परा लोक में अवश्य विद्यमान थी। किन्तु 'नारद पंचरात्र' (ज्ञानामृत सार संहिता) में इस बात का उल्लेख मिलता है कि कृष्ण गोपियों के साथ नृत्य एवं लीलाएँ करते थे। यह रचना चौथी शताब्दी ई॰ पू॰ की बताई जाती है। सम्भवतः इसीलिए अधिकांश भारतीय नाटकों की उत्पत्ति का आधार

---

१ ड्रामा ऐण्ड संस्कृत ड्रामा १४३।
२ हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, ७५-७६।
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास १२७

कृष्ण-भक्ति के प्रसार से मानते हैं। हेमचन्द्र (काव्यानुशासन) के मतानुसार रासक नय रूपक है। किन्तु यह विवादरहित है कि 'रासक नृत्य अभिनय और संगीत की त्रिवेणी का एक मिला-जुला लौकिक रूप (रसों का समूह) है।

नाट्य-शास्त्र में वर्णित 'ताल रासक' (तालबद्ध नृत्य)' 'दण्ड रासक' डण्डों को बजा कर किया जानेवाला नृत्य' (आजकल जिसे राजस्थान मारवाड़ ब्रज और मालवा में 'डाण्ड्या रमण्या' या डण्डे का खेलना कहते हैं। वे वस्तुतः मण्डलाकार एवं सामूहिक युग्म नृत्य ही हैं जो दण्ड रासक के बहुत निकट हैं।) एवं 'मण्डल रासक मण्डलाकार नृत्य रहे होंगे। इस प्रकार के नृत्य के कई प्राचीन चित्र मिलते हैं।'

प्राचीन गुजराती साहित्य में रास ग्रन्थों की एक साहित्यिक परम्परा का उल्लेख श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने ग्रन्थ 'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' (१९३५) में किया है। इस परम्परा के ग्रन्थों में दोहा-चौपाइयों का प्रयोग हुआ है, जिनमें प्रेम-कथाएँ लिखी गई हैं। ई० सन् १११८ के 'नवतत्त्व भाष्य' में यह रास परम्परा अपभ्रंश साहित्य का अंग बताई गई है। मुंशीजी ने गुजराती के 'भरतेश्वर बाहुबली' (११८५) से भी रास की परम्परा का संबंध स्वीकार किया है।

धार्मिक ग्रंथों में 'रास' दार्शनिक विचारों का स्पर्श पा कर ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप से समन्वित हो रहस्यमय स्थिति तक पहुँच गया है। लीला वस्तुतः एक क्रिया है यद्यपि लीला शब्द भी दार्शनिक परिभाषा में गुँथा जा चुका है। भगवान् रास रूप में हैं। रस में ही उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। लीला रस-सृजन का माध्यम है। वही भगवान् की प्रेमस्वरूपा अभिव्यक्ति है।

'रासलीला' प्रचलित अर्थ में कृष्ण चरित्र से संबंधित नृत्य—अभिनयात्मक विविध लीलाओं का द्योतक शब्द है। नृत्य के साथ वाचिक रूप में संवादों एवं प्रधान रूप से संगीत का इसमें प्रसार है। अतएव रासलीला कतिपय नाटक के तत्त्वों से अनुप्राणित हो कर अपने लोक-ग्राही रूप में खुले रंगमंच की नाट्य संपत्ति है।

भारतीय साहित्य एवं कला में कृष्ण एक ऐसे चरित्रनायक रहे हैं जो न केवल

---

१ नाट्यशास्त्र के अनुसार 'ताल रासक' में निपुण जाति 'नाट' बताई गई है। राजस्थान के भाट यद्यपि आश्रित एवं पेशेवर यश-वर्णन करनेवाली जातियों में गिने जाते हैं तथापि किसी समय वे नृत्य-गान में निपुण रहे होंगे यह प्रकाशित होता है।

२ जिनदत्त सूरी ने इसे 'लकुट रासक' नाम कदाचित् इसीलिये दिया प्रतीत होता है कि लकुट का तात्पर्य लकड़ी या डंडे से है। 'सप्त क्षेत्र रास' ग्रन्थ में 'दण्ड रासक' करनेवाली जाति 'नर्तक' बताई गई है। यह अवश्य ही इस नृत्य में विशेष निपुण रही होगी। सूरी ने 'दण्ड रासक' खेलना वर्ज्य घोषित किया था।

३ 'हल्लीस' नामक नृत्य इसी 'मंडल रासक' का एक भेद है। भरत ने दोनों की चर्चा की है। जिससे प्रकट होता है कि दोनों में बहुत कुछ सादृश्य होते हुए भी थोड़ा भेद है। वात्स्यायन ने इसका उल्लेख किया है (हल्लीसक क्रीडनकै मायेन)। अभिनव गुप्त (११वीं शताब्दी) ने भी नाट्यशास्त्र की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दों में हल्लीस नृत्य को मंडलाकार नृत्य बताया है—"मंडलेन तु यन्नृत्यं हल्लीसक विनिर्मितमुत्तम्।" इससे ज्ञात होता है कि ११वीं शताब्दी तक दोनों नृत्यों में निहित भेद लुप्त हो गया होगा।

अपनी लीलाओं के लिये विख्यात हैं, बल्कि दर्शन साहित्य और राजनीति में भी उन का प्रवेश निस्संदिग्ध प्रभावी है। मध्यकालीन उत्तर भारत में कृष्ण-लीलाएँ अपनी लौकिक रंगमंच का विषय बनीं। रासलीला उसी परम्परा की सम्पत्ति है। इस रासलीला का संबंध न केवल श्रीमद्भागवत से है बल्कि द्विवेदीजी का अनुमान है कि "भागवत महापुराण में भी कृष्णलीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है, उससे भिन्न एक और भी परम्परा थी जिसका प्रकाश जयदेव के 'गीतगोविन्द' में हुआ। भागवत-परम्परा की रासलीला शरत्पूर्णिमा को हुई थी गीत गोविन्द-परम्परा का रास वसन्त काल में है।

सूरदास आदि परवर्ती भक्त कवियों में ये दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे से घुल कर एक हो गई हैं।"[1] ब्रज तो इन लीलाओं का केन्द्र रहा है। द्वापर में भगवान् श्री कृष्ण का आविर्भाव होते ही थोड़े ही समय के पश्चात् जन-जन में उनकी लीला अभिनय के रूप में प्रश्रय पाने लगी। दान-लीला मान-लीला माखन-चोरी ग्वाल-बालों के साथ ठिठोली आदि से अभिनय एवं अष्टछाप के कवियों की रचनाओं पर विशेषत सूर के पदों का आधार ले कर विविध लीलाएँ की जाती रही हैं। १५ १६वीं शताब्दी में ब्रज-भूमि में यह परम्परा नये उत्साह के साथ प्रकट हुई। नन्ददास ब्रजवासीदास ध्रुवदास आदि भक्तों ने रासों की रचना कर रास-परम्परा के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। आजकल रास की अनेक पुस्तकें उत्तर-भारत में मिलती हैं जिनमें कथोपकथन की गीत-बद्ध शैली के साथ संगीत का निर्देश भी कहीं-कहीं उपलब्ध है। ब्रजवासीदास कृत 'ब्रज विलास' एवं नारायण स्वामी रचित 'ब्रज-विहार' तो रास रसिकों की प्रिय पुस्तकें हैं।

१५वीं शताब्दी के पश्चात् वैष्णव भक्तों एवं आचार्यों ने रास को उत्कर्ष प्रदान करने के लिये लीलाओं का जो आश्रय ग्रहण किया वह प्रधानत धार्मिक भावों से संबंधित था। जैन ग्रन्थों के रास तो प्राय सभी धार्मिक हैं। वीररस प्रधान रासों की वैसे ही परिमिति है और धार्मिक आन्दोलनों के कारण वे पीछे भी रह गये। वल्लभाचार्य जैसे आचार्य द्वारा उसमें यद्यपि शृंगारी भावों का अनियंत्रित प्रश्रय नहीं दिया होगा। महाप्रभु की इस रास-योजना में अनेक तत्कालीन कलाकारों का सहयोग रहा है। कहते हैं स्वामी हरिदास, हित हरिवंश राय (१५५९ वि०) घमण्डीदेव और नारायण भट्ट[2] भी वल्लभाचार्य के साथ रास के संस्थापकों में हैं। बताया जाता है कि घमण्डीदेव ने ललिता सखी के गाँववाले कुछ लड़कों को अभिनय की शिक्षा दी और अकबर के दरबार के नृत्यकार वल्लभ ने वृन्दावन आ कर उन्हें नृत्य सिखाया। इस तरह एक रास-मंडली बनी जो अपने समय में बहुत प्रख्यात हुई।

जनरुचि की अनुकूलता एवं अभिनयात्मक प्रसाधन के लोकग्राही विकास में रास-लीला अधिकांशत शृंगारपरक होती रही जिसका परिणाम यह हुआ कि इतर प्रान्तों में ये लीलाएँ वहाँ की परम्परागत नाट्य सम्पत्ति को भी प्रभावित करने लगीं। आज रासलीला लोक-नाट्य ही है एवं खुले रंगमंच तथा उसके प्रसाधनों को देखते हुए यह

---

१ मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ ११५।

२ ग्राउस महोदय नारायण भट्ट को रासलीला का संस्थापक मानते हैं। उन्होंने रास को यूरोप के 'मिरेकल प्ले' के समान मानते हुए धूमधड़क्क बताया है।

—देखिए: 'ए डिस्ट्रिक्ट मेमोयर ऑफ मथुरा' पृ० ७८, सन् १८००।

वोमन वरे डैंसे (समूह नृत्य) और नारगिन हेवन धार्मिक रूपक मानते हैं।

'लोक' की ही वस्तु सिद्ध होती है। रासक का उल्लेख ऊपर किया गया है। मुनि जिनविजयजी ने 'संदेश रासक' की खोज की है, जिसका रचना-काल ११वीं शताब्दी प्रतीत होता है। श्री जोशी ने इसकी कथा संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कुछ संवादों का अनुवाद प्रस्तुत किया है। उसे यहाँ उद्धृत करना प्रासंगिक होगा।

"विजयनगर की एक युवती अपने प्राणनाथ के वियोग में अश्रु बहाती वियोगाग्नि में झुलसती पति-दर्शन की लालसा लिए पथ पर खड़ी चारों ओर निहार रही है। इतने में एक पथिक आता है जिसके पास पहुँच कर हिचकियों के साथ पति को संदेश भेजना चाहती है। उसकी विरहावस्था देख कर पथिक उसे एक गाना सुनाता है। पथिक और विरहिणी में इस प्रकार संवाद होता है—

विरहिणी—"आप कहाँ से आते हैं, कहाँ जायेंगे?"

पथिक—'अरे! मैं उस साम्बपुर से आ रहा हूँ जहाँ भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर प्राकृत के मधुर गान सुनाई पड़ते हैं, वेद की व्याख्या करते हैं, कहीं-कहीं रासकों का अभिनय नटों द्वारा किया जाता है।

• • • •

पथिक—"अब मुझे प्रस्थान करना चाहिये। आप अपनी अश्रुधारा रोकिये अन्यथा मुझे अपशकुन के कारण मार्ग में आपत्ति की आशंका होगी।"

विरहिणी—"आपकी यात्रा मंगलमय हो।"

पथिक—"सूर्यास्त हो रहा है। आप अपना संदेश संक्षेप में सुनाइये। अब मुझे अपने पथ पर अग्रसर होना है। कृपा करके इतना बता दीजिये कि आप कब से इस विरहाग्नि में झुलस रही हैं?

विरहिणी—"जब मेरे प्राणनाथ विदेश गये ग्रीष्म के दिन थे तब से एक के बाद दूसरी ऋतु गई वेदना से कट जाती है।"

रास में कथानक संक्षिप्त और सूचना द्वारा दृश्य-परिवर्तन की योजना मिलती है। १२वीं शताब्दी में सम्भवतः रास की तीन शैलियाँ हो गईं—(१) जन-नाटक के रूप में (२) 'चरित' के रूप में और (३) 'गाथा' के रूप में।

जहाँ कहीं भी रासलीला का प्रदर्शन होता है श्रद्धालु जनता मन्त्र-मुग्ध होकर देर तक बैठी रहती है। पात्रों के पद्यात्मक संवाद लोगों को प्रभावित करते हैं। रास लीला के नायक कृष्ण और प्रधान नायिका राधा होती हैं। राधा सखियों के साथ मंच पर प्रवेश करती है। नृत्यात्मक अंश है जो रसनागर कृष्ण का एक अंग विशेष है, पर उसके संवाद पद्यबद्ध न होकर गद्यमय होते हैं।

रासलीला की उत्पत्ति के विषय में श्रीमद्भागवत की वह कथा उल्लेखनीय है, जिसमें राधा एवं अन्य गोपियों में अहंकार और अभिमान उत्पन्न होने के कारण अचानक नायक कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। उन्हें स्मरण करने और उनकी लीलाएँ करने से वे पुनः प्रकट हुए। इससे सिद्ध होता है कि रासलीला की उत्पत्ति विप्रलम्भ-शृंगार से हुई। फिर भी यह निर्विवाद है कि भागवत धर्म के प्रचार ने रासलीला को बहुत आगे बढ़ाने में योग दिया।

एक किंवदन्ती के अनुसार रासलीला मणिपुरी नृत्य की उत्पत्ति का आधार मानी जाती है। एक बार शिवजी रासलीला का आयोजन कर रहे थे तभी पार्वती ने नूपुर और घुंघरू की ध्वनि सुनी और उसके पश्चात् शिवजी ने रासलीला के दर्शन कराने का

अनुरोध किया। श्रीकृष्ण ने यह स्वीकार नहीं किया किन्तु पार्वती के अनुरोध का अनुमान कर किसी गुप्त स्थान पर यह आयोजन पुनः करने की स्वीकृति दे दी। शिवजी ने बड़े यत्न से एक स्थान खोज निकाला। उन्होंने देवी-देवताओं गन्धर्वों अप्सराओं आदि को रासलीला में सम्मिलित होने का निमंत्रण भेजा। नंदी मृदंग ले कर, ब्रह्मा शंख ले कर और इन्द्र वेणु ले कर उपस्थित हुए। नागराज की कृपा से सम्पूर्ण स्थान आलोकमय हो गया। गंधर्वों ने अपना स्वर्गीय संगीत प्रारम्भ किया। रासलीला प्रारंभ हुई। यह रासलीला लगातार सात दिन और सात रात होती रही तभी से 'मणिपुरी नृत्य परम्परा' प्रारम्भ हुई।

कालियानाग के दमन के पश्चात् श्रीकृष्ण ने वृन्दावनवासियों के साथ नृत्य किया था। यह नृत्य वस्तुतः लोकनृत्य ही होगा जिसे रास की संज्ञा दी गई। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भागवत पुराण में उपलब्ध रासलीला की जो विस्तृत चर्चा की उसमें राधिका के साथ कृष्ण के नृत्य के अतिरिक्त पुरवासियों सहित नृत्य का भी उल्लेख है। यह नृत्य गोलाकार हुआ करता था। कृष्ण मध्य में और उनके आस-पास गोपियों के जोड़े नृत्य करते थे। कई प्राचीन चित्रों में राधिका के साथ कृष्ण मध्य में बताये गये हैं। तालियाँ दे कर नृत्य करते हुए चित्र भी उपलब्ध हैं।

गुजरात में संत कवि नरसिंह मेहता (१५वीं शताब्दी) के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने कृष्ण की रासलीला का दर्शन किया था। उस समय वे हाथ में मशाल लिये हुए थे। रास-दर्शन में वे इतने तल्लीन हो गये कि मशाल उनके हाथ को ही जलाने लगी।

रास-नृत्य की समानता गुजरात के 'गरबा-नृत्य' से बहुत मिलती है। वैसे गुजरात में 'रासड़ों' भी एक ग्रामीण नृत्य का प्रकार है। सूरत के निकटवर्ती ग्रामों में मोरपंखी को बाँध कर देवी के समक्ष जो नृत्य किया जाता है उसे 'मोर्‌या रास' कहा जाता है। रास के अधिकांश गीत गरबा में भी पाये जाते हैं। कुछ ग्रंथों में रास एक लोक-नृत्य भी है। अभिनय का स्पर्श पा कर 'रास' लोक-नाट्य की कोटि में भी आ गया है।

रासलीला की परम्परा हिन्दी साहित्य की ही वस्तु नहीं अपितु उत्तर भारत तथा उसके निकटवर्ती एवं सुदूर प्रान्तों के साहित्य की भी सम्पत्ति है। लोक-नाटकों की परम्परा में रासलीला की कड़ियाँ दृष्टव्य हैं। रास ने जहाँ एक ओर नृत्य की भूमिका प्रस्तुत की है वहाँ दूसरी ओर नाट्य-सामग्री की दृष्टि से लीलाओं में अभिनय संबंधी उपकरण भी दिये हैं।

रास ग्रन्थों की खोज ने हिन्दी नाट्य के प्रारम्भ का समय तेरहवीं शताब्दी प्रमाणित किया है। रासों की परम्परा ने सैकड़ों वर्षों तक हिन्दी के विकास को सँवारा है। भारतवर्ष में उपलब्ध 'रास साहित्य का यथोचित अनुसंधान और भी अधिक सम्भावनाओं को प्रकाश में ला सकता है। 'रास' से सम्बन्धित 'रहस' शब्द की चर्चा विद्वानों ने की है जो 'रहस्य' का विकृत रूप प्रतीत होता है। कहा गया है कि उपलब्ध रास-नाट्य को 'रहस' कहा जाता था। श्रीकृष्णदास के शब्दों में 'वाजिदअली शाह अपने यहाँ 'रहस' ही करता था और उसके अभिनय के लिये कैसरबाग में 'रहसखाना' भी बनवाया था।[1]

1 साहित्यकार—अंक १६, वर्ष २ पृष्ठ ६९

रास की परम्परा कृष्णलीला के विविध प्रसंगों से पूर्णतः आवृत है। आभीरों के नृत्य गोप-गोपिकाओं की लीलाएँ कृष्ण संबंधी विविध प्रसंग वस्तुतः रासलीला के अन्तर्गत आते हैं। कथोपकथन का अपना अस्तित्व इन नाट्यों में प्राय मौखिक ही रहा है। अब्दुर्रहमान ने रासकों की उपादेयता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "बहु रूपिये सुसम्बद्ध रासों का रंगमंचों के रूप में प्रदर्शन किया करते हैं (बहु बहु-रूपिणी बद्धु रासउ भासियई)।" इसके अतिरिक्त अन्य रासों में मंगलाचरण से लगा कर आशीर्वचन तक के समस्त नाटक-तत्त्वों का समावेश मिलता है। डॉ० दशरथ ओझा ने हिन्दी नाटकों के आरम्भ की चर्चा करते हुए रासकों का महत्त्व स्वीकार किया है। इस शैली के नाटकों में निम्न विशेषताओं की चर्चा ओझा जी ने की है —

१ नाटक छन्दोबद्ध एवं गेय होते हैं।

२ गद्य भाग प्राय उपेक्षित होता है।

३ नाटक के पात्र प्रारम्भ से अन्त तक मंच पर ही रहते हैं। प्रवेश और निष्क्रमण का संकेत नहीं मिलता है।

४ नृत्य और गीत का प्राधान्य होता है।

५ मंगलाचरण और प्रशस्ति पाठ संस्कृत नाटकों की तरह होता है।

६ अन्त में नाटक-रचना का प्रयोजन घोषित किया जाता है।

७. भाषा तत्सम शब्दों से बोझिल और देशज उक्तियों से युक्त रहती है।

रासकों के विकास क्रम की साधारण स्थिति प्रथम तीन भागों में विभाजित की जा सकती है।

१ जैन रासकों की परम्परा जो ब्रज में प्रचलित रासलीला के आरम्भ से चली आ रही थी। १६वीं शताब्दी तक इस जैन-परम्परा का प्रभाव बना रहा।

२ वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ ही कतिपय आचार्यों ने श्रीमद्भागवत के विविध प्रसंगों से कथानक ले कर इस नाट्य शैली का आश्रय लिया। यह परम्परा नन्ददास तक अपने अखण्ड स्वरूप में चलती रही।

३ सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से ले कर नन्ददास द्वारा परिष्कृत रासलीला की हितपोली हरि रचित 'छद्मयोगिनी लीला' (संवत १८०८ वि०) तक उसी रूप में चली रही।

४ इसके बाद रासलीला विविध लीलाओं के प्रदर्शन का आधार बनी। इसका लीला-नाट्यवाला स्वरूप धीरे-धीरे ह्रास की ओर अग्रसर होने लगा। परिणाम-स्वरूप विदूषकों का समावेश हुआ। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का प्रभाव भी इस परिवर्तन का कारण हुआ।

रासलीला का ब्रज के ग्रामीण जीवन में जो महत्त्व है उसके मूल में श्रद्धा और भक्ति तो है ही पर कई शताब्दियों से पोषित संस्कार भी स्पष्ट है। आंशिक परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ यह शैली और भी अधिक प्रभावशाली बनायी जा सकती है। लोक-नाट्यों में कीर्तनियाँ यात्रा और सवाई के ढंग रास से मिलते जुलते हैं। खोज करने पर रासलीला के प्रति और भी अधिक सम्भावनाएँ उभर सकती हैं।





रासलीला







रामलीला के दो पात्र (साधु और राजा के वेष में)

[पृ० २१]

रामलीला

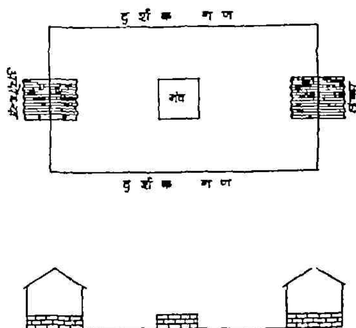
रामलीला का आरम्भ महाकवि तुलसीदास ने किया है। कुछ विद्वानों का भी यही मत है। रामलीला जैसा कि नाम से स्पष्ट है, राम के जीवन से संबंधित है और इसीलिये उसका स्थान धार्मिक लोकमंच की श्रेणी में है। श्री जगदीशचन्द्र माथुर के अनुसार उक्त मत में 'महान् साहित्यिक सत्य छिपा पड़ा है। आपका कथन है कि "तुलसीकृत रामचरितमानस नाटकीय वर्णन है।" नाटकीय वर्णन (Dramatic Narative) इस अर्थ में कि रामचरितमानस केवल पाठ करने की कथा मात्र नहीं अपितु वह मंच पर अभिनेय भी है। ग्रंथों के पाठ किये जाने के अनेक उल्लेख प्राप्त है। रामायण की कथा कहनेवाले ग्रामों में 'पाठक' और 'वाचक'—दो भागों में बँट जाते हैं। एक दल रामायण से पाठ करता और दूसरा उसकी व्याख्या। कभी-कभी इस व्यवस्था में अभिनय भी सम्मिलित हो जाता है। जिससे लोक-मंच पर राम-लीला को प्रश्रय प्राप्त होता है। साँची में उत्कीर्ण कुछ दृश्य इस परम्परा की प्राचीनता को प्रकट करते हैं। राम की कथा से तो लोग परिचित थे ही पर उसी कथा में संवाद चमत्कार द्वारा रस-भाव उत्पन्न करने की दृष्टि से तुलसी ने जो रचना की वह संवादात्मक कही जा सकती है। इन 'संवादों' को एक सूत्र में बाँधनेवाली कड़ी यानी—सूत्रधार के संकेत आगमन और प्रस्थान की सूचनाएँ, कथानक की गति—का कोई ब्यौरा नहीं मिलता। जान पड़ता है ये सब निर्देश मौखिक हुआ करते थे जैसा रामलीला में आज तक होता है। 'रामचरितमानस' के अनेक संवाद तो छोटे-छोटे एकांकी नाटक ही जान पड़ते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'अयोध्याकाण्ड' में घटनाओं का गुम्फन चरित्र-विकास आन्तरिक और बाह्य द्वंद्व एवं करुण-रस का पर्यवसान इन सभी नाटकीय अंगों का निरूपण इस खूबी के साथ हुआ है कि उसे यूनानी दुःखान्त नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि 'रामचरितमानस' के कवि की नजर बराबर रामचन्द्र की लीलाओं के नाटकीय वर्णन की ओर रही है समूचा कथानक संवाद के माध्यम से अनावृत हुआ है और कई स्थानों पर विभिन्न प्रकृति के पात्रों द्वारा तर्कपूर्ण शैली में वार्तालाप का प्रयोग रंगमंच के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। रामलीला रंगमंच की कतिपय विशेषताएँ उसे यूरोप के 'पैजन्ट प्लेज' के समकक्ष रख देती हैं। उत्तर प्रदेश के कई नगरों में रामलीला-प्रदर्शन एक ही मंच एवं प्रेक्षागृह में न होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण और पूर्वोल्लिखित पृष्ठभूमि से लाभ उठाते हुए किया जाता है। वनवास तक की लीलाएँ मन्दिरों में होती हैं, गंगापार के लिये नगर के किसी जलाशय अथवा नहर को चुना जाता है। चित्रकूट और उसके बाद की लीलाएँ नगर के बाहर एक विस्तृत मैदान को घेर कर की जाती हैं भरत-मिलाप और राम-तिलक के लिये पुन: मंडली नगर का वापस आती है। इस तरह रामलीला का रंगमंच अपने ढंग का यथातथ्यवादी (रियलिस्टिक) रंगमंच है और साथ ही वस्तु-विषय की महत्ता का द्योतक भी।"[1]

इस प्रकार के यथातथ्यवादी रंगमंच का एक और रूप देखने में आया है जिसमें विस्तृत मैदान के दो विरोधी छोर लंका और अयोध्या मान लिये जाते हैं। मध्य में एक उन्नत मंच पर अभिनय का आयोजन किया जाता है। 'पाठक' और 'वाचक मंच' पर

---

१ आलोचना– हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना का विकास अंक ६।

ही एक ओर बैठते हैं। प्रसंग आरम्भ होने पर रावण लंका से चल कर आता है और राम अयोध्या से। भूमि के चारों ओर दर्शकों के लिये स्थान होता है। इस प्रकार की व्यवस्था कुछ स्थानों पर स्थानीय रूप से रामलीला के लिये कर ली जाती है। स्थायी व्यवस्था में लंका और अयोध्या के स्थान पर पक्के चबूतरे बना कर उन पर स्थायी अथवा अस्थायी कक्ष बनाये जाते हैं। इन कक्षों में पात्रों के लिये आवश्यक प्रसाधन और विश्राम की व्यवस्था होती है। मैदान के एक भाग में वनवास का चित्र प्रस्तुत करने के लिये कुटिया भी छवा ली जाती है। सौभाग्य से मैदान में कुछ पेड़ हुए तो कुटिया की शोभा का क्या कहना! इस प्रकार के खुले रंगमंच लेखक ने मालवा और बुन्देलखण्ड की सीमा पर देखे हैं। विदिशा के निकट प्राचीन नगर ग्यारसपुर के मंच का रेखाचित्र मानचित्र विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत है



रामलीला उत्तर भारत का नहीं, कुछ हेर-फेर के साथ समस्त भारतवर्ष एवं उसके निकटवर्ती देशों का धार्मिक मंच है। ऊपर 'रामचरितमानस' को नाटक की कसौटी पर कसा गया है। डा० विंटरनित्स, ओल्डनबर्ग तथा पिशेल तीनों ने इस प्रकार का अनुमान वैदिक ऋचाओं में संवादात्मक पद पेश कर भी किया था। ऋचाएँ उनके मत से नाटक के वे पद्यात्मक अंश हैं जो सुरक्षित रह सके और बीच बीच में प्रयुक्त होनेवाले गद्यांश परिवर्तित होते रहे, इसलिये लिपिबद्ध नहीं किये गये।[1] इस मत पर आगे पर्याप्त रूप में विचार किया। इस बात 'रामचरितमानस' के संबंध में अनुमान का स्थान मात्र नहीं है। क्योंकि लोक रंगमंच पर उसका प्रत्यक्ष प्रयोग होता आ रहा है। रामायण और महाभारत के नाटक और 'चारण' नाटकों से रामलीला के अभिनय सूत्र मिल रहे हैं। भक्ति आन्दोलन के पूर्व रामलीला प्रदर्शन के प्रमाण मिलते हैं। हरिवंशपुराण (४०० ई० पू०) में रामलीला पर आधारित एक नाटक अभिनीत किये जाने का उल्लेख है। वाल्मीकि के

१ कीथ दी संस्कृत ड्रामा पृष्ठ २१-२२ १९२४।

समय वीर-पूजा के निमित्त गाये जानेवाले गीतों और अभिनय में रामकथा का प्रभाव था। लव-कुश तो रामकथा का गायन ही करते थे। कदाचित् इसीलिये 'कुशीलव' शब्द पूर्वकाल में गायक एवं अभिनेता के पर्याय स्वरूप स्वीकार किया गया था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रामकथा को लिपिबद्ध करने के पूर्व लोकमंच पर राम की जीवन-लीलाएँ प्रारम्भ हो गई थीं। बहुत सम्भव है कि तुलसीदास ने इस माध्यम को सुव्यवस्थित रूप देने के लिये मानस की रचना नाटक की दृष्टि से की हो। अतएव यदि काशी के रामनगर की रामलीला के संस्थापक तुलसी माने जाते हैं तो सम्भव है यह असत्य नहीं भी हो।

रामानन्द ने रामभक्ति के प्रचारार्थ बहुत सम्भव है रामलीला का माध्यम अपनाया होगा। कदाचित् उस समय की लीलाओं का मंच आज की तरह सुगठित न होकर अनगढ़ अधिक होगा। इस अनगढ़पन का परिष्कार तुलसी के 'मानस' से किया जाना सम्भवतः विचारणीय है। तुलसी के समय या उनके आगे-पीछे प्रयोग की दृष्टि से राम संबंधी नाटक मंच के लिये लिखे गये हों तो आश्चर्य नहीं। लोकमंच की सम्पत्ति होने के कारण उनका आज प्राप्त न होना आश्चर्य का विषय नहीं।

१८वीं और १९वीं शताब्दी की लीलाओं के आँखों देखे वर्णन उपलब्ध हैं, जिनसे पता चलता है कि रामलीला उत्तर भारत के बाहर भी ठेठ दक्षिण के छोर तक प्रचलित थी। इन दिनों की खोज ने उसके सुदूर देशों तक में प्राप्त होने के प्रमाण उपलब्ध करा दिये हैं। किसी न किसी रूप में प्रायः सभी पड़ोसी देश राम को उनके देश का पावन पुरुष समझते हैं। बर्मा में कवि यूतो लिखित 'रामयागन' (रामायण) यद्यपि मंच की रचना नहीं है, तो भी लोगों में रामलीला 'यामप्वे' नामक नाटय के रूप में प्रचलित है। स्याम में कठपुतलियों द्वारा रामकथा वर्णित की जाती है। रामलीला भी लोगों में प्रख्यात है। बाली द्वीप के लोक-नृत्यों में रामकथा की घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। कम्बोडिया के 'रीयामकेर' अथवा स्याम के 'रामकीन' ग्रन्थों के अतिरिक्त राम के जीवन संबंधी घटनाएँ दोनों देशों के प्राचीन मन्दिरों में उत्कीर्ण पायी जाती हैं। यद्यपि प्रदर्शित करने में लोक प्रचलित कई परम्पराओं का चुन कर आश्रय लिया जाता है तथापि रामायण की मूलकथा में विशेष परिवर्तन नहीं होता। सुदूर अमेरिका में भी माबियों ने राम-रावण युद्ध के प्रदर्शन देखे हैं।

मध्यकाल की परिस्थितियों में मुख्यतः उत्तर और मध्यवर्ती भारत में रासलीला और रामलीला को पनपने का खूब अवसर मिला। रास में कृष्ण चरित के साथ संयोग के उपभोग एवं माधुर्यमयी शृंगार चेष्टाओं के लिये पर्याप्त छूट रही है। अतएव उन दिनों रामलीला की अपेक्षा रासलीला संबंधी नाटय रचनाएँ अधिक हुईं। पूर्व में राजदरबारी नाटय-कला भी 'कीर्तनिया' और 'अंकिया' के नाम से नेपाल मिथिला और असम में अपनी कृष्ण चरित पर ही अवलम्बित थी। रामलीला में राम के उदात्त चरित की रक्षा करने के लिये मंच संबंधी गतिविधियों में मर्यादा अपेक्षित रही है। पुरुषोत्तम राम के व्यक्तित्व की झाँकी रास के राधा और कृष्ण की लीलाओं के ठीक विपरीत है। रामलीला में इसीलिये शृंगार को पनपने का अवसर नहीं मिला। राम के प्रति लोगों में आध्यात्मिक श्रद्धा है। कृष्ण उनकी तुलना में शृंगार के आलम्बन हैं। मानव प्रवृत्तियों की जो तुष्टि रास में होती है वह रामलीला में संभव नहीं। आज भी नेपाल और मिथिला के कीर्तनिया कृष्ण-कथा पर आधारित हैं। वहाँ कदाचित् ही पिछली शताब्दियों में लिखे गये राम-संबंधी नाटक मिलें। हिन्दी में १९वीं शताब्दी में

ारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से कुछ अच्छे नाटक लिखे गये जिनमें 'सीता-स्वयंवर' (देवकीनन्दन
त्रिपाठी) 'रामलीला-विहार' (मधुकर) तथा 'रामलीला' (दामोदर शास्त्री) मुख्य हैं।
ारतेन्दु के पश्चात् रामलीला को सुसंस्कृत बनाने के लिये माधव शुक्ल एवं उनके साथियों
ने १८९८ ई० में श्री रामलीला नाटक मंडली' की स्थापना की थी पर वह नहीं चली।
व्यास' और 'माच' की तर्ज पर लिखी गई 'रामलीला' बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिलती
है। मालवा में 'रामलीला माच' की किसी समय बड़ी धूम रही। आज भी कभी-कभी माच
की शैली में यह लीला अभिनीत की जाती है।

रामलीला का रास की भाँति अपना स्वतन्त्र विकास हुआ। बहुत संभव है दोनों की
नाट्य मंडलियों में प्रतिस्पर्द्धा भी रही हो। रामलीला में 'मानस-पाठ' की परम्परा ही उसकी
लस्पष्टता की द्योतक है। उसके द्वारा कथा-सूत्र जुड़ते जाते हैं और तदनुसार अभिनय चलता
रहता है। रिजले ने ऐसी लीलाओं को देख कर जो वर्णन किया है, उससे पता चलता है कि
(१) नृत्य और गीत के साथ कथा का विकास (२) पद्यात्मक संवाद (३) खुला मंच (४)
न्यूनतम अलंकरण एवं रंग लेपन (५) मंच पर स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध और (६) पतिमय अभि
नय—लोकधर्मी नाट्यों की प्रमुख विशेषताएं हैं। रामलीला में नाटकीय गति युद्धादि अवसरों
पर ही तीव्र पड़ती है अन्यथा शेष अभिनय में शान्त एवं गम्भीर वातावरण बना रहता है।

वर्षों व्यतीत हो गये। वही राम वही सीता वही लक्ष्मण वही भरत और वही रावण
लोकमानस में बसे हुए हैं। आदिकवि वाल्मीकि ने राम-कथा के प्रचार का जो संकेत—

"यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥"

किया था वह आज सत्य सिद्ध हो रहा है।

रामलीला प्रस्तुत करने की कुछ उल्लेखनीय शैलियां हैं। दक्षिण भारत में 'कथकली
नृत्य' की कतिपय भाव-भंगिमाओं का आधार रामकथा है। १७वीं शताब्दी में केरल
ों और रामकृष्णा ने इस शैली में रामकथा को प्रथम बार अभिनीत किया था। आगे
चल कर १८वीं शताब्दी में राजा रामनाथन् ने रामायण की कुछ मुख्य घटनाओं को
लेकर कथकली शैली की कुछ भाव भंगिमाओं का परिष्कार किया। कथकली नृत्य
प्रायः खुले मंच पर होते हैं इसलिये लोक-जीवन से संबंधित हैं। नर्तक के प्रवेश करते
ही मंगलपाठ होता है। तत्पश्चात् कथा प्रारम्भ होती है। मंच पर नर्तक आंगिक
अभिनय द्वारा उसे रूप प्रदान करता जाता है। स्थानीय विशेषताएं मलयाली गीतों के
माध्यम से उभरती जाती हैं। यह शैली दक्षिण भारत तक ही सीमित है।

उत्तर भारत में दृश्य और श्रव्य दोनों ही काव्यों का रस रामलीला में
। मंच के एक ओर बैठ कर वाचक रामायण का पाठ करता है। पाठ करते हुए जहां
अभिनय संभव हो वहां अभिनेता अपने हाव-भाव से कथा को दृश्यमय करता है। एक
और प्रकार इसमें मिलता हुआ है। पाठक द्वारा पढ़े हुए अंश को पात्र मंच पर अपनी
भाषा में संवादात्मक रूप में ढालते हुए अभिनय करते हैं।

रामलीला का यह क्रम आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। अनन्त ऐसी
लीलाओं में चमत्कारपूर्ण भाग लेती है। किसी भी पात्र की कमी हुई नहीं कि उसके स्थान पर
नई स्वयंसिद्ध पुरुष उपस्थित हो जाते हैं।

दिल्ली में रामलीला की बड़ी धूम रहती है। सम्भव सन् १९२० से दिल्ली में केवल
एक ही रामलीला होती थी। बाद में संख्या बढ़ने लगी। कहा जाता है कि बहादुरशाह के

समय महन्त रामोदास ने दिल्ली में इस उत्सव का आरम्भ किया था। सन् १९१८ में रामलीला के संचालनार्थ रामलीला-समिति को शासन द्वारा मान्यता प्राप्त हुई। तब से यह उत्सव सुव्यवस्थित रूप से आयोजित होता आ रहा है। रामोदास की परम्परा में आज जो महन्त हैं वही रामलीला के संचालक हैं। [परिशिष्ट में इस महन्त परम्परा का ब्यौरा दिया गया है।]

अयोध्या में अनोखा दृश्य देखने को मिलता है। यहाँ आश्विन कृष्ण नवमी से आरम्भ होकर रामलीला के विविध प्रसंग ११ दिन में पूरे होते हैं। लंका-दहन की आयोजना में बड़ा परिश्रम किया जाता है। साठ-सत्तर फुट ऊँचा रावण का महल बनाया जाता है। उस पर हनुमान रस्सी के सहारे चढ़ कर अग्निदाह करते हैं। आगरा में आश्विन कृष्ण प्रतिपदा से रामलीला शुरू होती है। जब राम को वनवास दिया जाता है तो नगरवासी मंच को छोड़ कर राम को यमुना के पार पहुँचाते हैं। यहाँ उपयुक्त स्थानों पर घटनाओं का क्रम से आयोजन किया जाता है। मथुरा में आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से कई रामलीला मण्डलियाँ उत्सव आरम्भ कर देती हैं। लखनऊ में तो होड़-सी लग जाती है। कुमाँयू में विजयादशमी के अवसर पर रामलीला का प्रदर्शन होता है। साधारण संवादों के अतिरिक्त देसी राग-रागनियों में वाल्मीकि और तुलसी की रामायण के अंश गाये जाते हैं। नेपाली और तिब्बती रामायण के पात्र अधिक निखरे हुए होते हैं। अभिनय भी उसके लौकिक प्रभाव को उठाने में योग प्रदान करता है।

रामलीला में वेष-भूषा और रंग-सज्जा के लिये विशेष परिश्रम नहीं किया जाता। काजल चन्दन सुरमा [illegible] बढ़िया पेवड़ी रोली मुर्दा सिंगी मोहर, [illegible] चेहरे-मोहरे, पन्नियों से चमकाये हुए मुकुट लकड़ी के अस्त्र-शस्त्र दाढ़ी-मूँछें, [illegible] कपड़े कमण्डल हनुमानजी और बन्दरों के लिये सनसनी पूँछें, राम-लक्ष्मण [illegible] गदा के अंगे धनुष-बाण आदि सामग्री पर्याप्त है। मजा यह कि रामलीला [illegible] कुछ अस्वाभाविकता होते हुए भी लोग उसे बड़े उत्साह से देखते हैं। एसा [illegible] कि यह परम्परागत लोक-नाट्य लोगों की धार्मिक भावनाओं को परितोष [illegible] है पर उनके लिये मनोरंजन का आवश्यक साधन भी हो गया है। यद्यपि [illegible] पर रामलीला स्वांग मात्र रह गई है तथापि उसके परिष्कार और [illegible] योजित योजना को ध्यान में रखते हुए देशव्यापित प्रयत्न किये जाने पर [illegible] राष्ट्रीय मंच का स्वरूप सहज ही उपलब्ध कराया जा सकता है। [illegible] देश में कतिपय नृत्य-मण्डलियों पर पड़ा है। नृत्य-नाटय रूप में जो [illegible] ने किये हैं उनसे रामलीला की शैली में एक दृष्टि से अभिवृद्धि हो [illegible] उसके लोकनाट्य रूप का प्रश्न है उसमें मंचीय आडम्बरों का [illegible] अभिनय होने पर ही कोई भी कथा जन-जीवन के निकट आ सकता [illegible] रामलीला के संबंध में इस दृष्टि से विचार किया जाना अपेक्षित है।



'माच' और 'ख्याल'

'माच' शब्द 'मंच'[1] का मालवी तद्भव रूप है। मालवी में यह शब्द मंच बाँधने और उस पर अभिनीत किये जानेवाले 'ख्याल' (खेल) दोनों ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। वस्तुतः 'माच' मंच पर अभिनीत किया जानेवाला मालवा के पठार और निकट वर्ती क्षेत्र का लोकनाट्य है। माच की व्याख्या के पूर्व माच-मंच के विषय में संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करना यहाँ भूमिका की दृष्टि से संगत होगा।

माच-नाट्य प्रारम्भ करने के कुछ सप्ताह पूर्व उचित मुहूर्त में ग्राम अथवा नगर की बस्ती के किसी खुले एवं निश्चित स्थान में माच-मंच का 'खम्ब' (स्तम्भ) स्थापित किया जाता है। उस समय माच-नाट्य के अभिनेता और कार्यकर्ता एकत्र हो कर अपने गुरु के कर-कमलों से खम्ब की पूजा करवाते हैं। खम्भ के पत्र अमर बत्तरी धनिया गुड़ और लाल-लाल वस्त्र पूजन-सामग्री में प्रयुक्त किये जाते हैं तथा पूजन की बेला में ढोलक का सतत रूप से बजना अनिवार्य समझा जाता है। माच-मंच के निर्माण के लिये यह औपचारिक आयोजन मांगलिक माना जाता है।

मंच प्रायः दृढ़ खम्भों पर ५ फुट से लगा कर १० फुट ऊँचा बनाया जाता है। ऊपर चार बल्लियों के सहारे चन्देर चादर तान दी जाती है और उसमें रंग-बिरंगे कागजों के फूल गोंद से चिपकाये जाते हैं। मंच के चारों ओर रंगीन पन्नियाँ लाल-पीले वस्त्र के टुकड़े आम के पत्तों की झालरें या ऋतु के फूलों की बन्दनवारें भी टाँगी जाती हैं। मंच की लम्बाई और चौड़ाई का प्रमाण आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार सज्जित मंच यद्यपि चारों ओर से खुला होता है किन्तु उसकी सुरक्षा के हेतु अन्य व्यवस्था की जाती है जो माच की परम्परा में अपना वैशिष्ट्य रखती है।

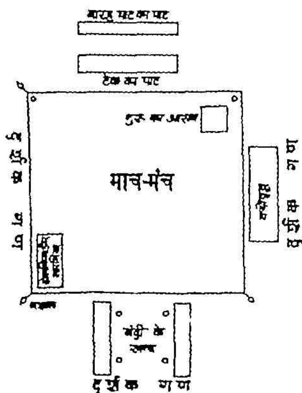
मंच-व्यवस्था के अनुशासनार्थ माच-मंच के दोनों ओर दो-दो पाट और सामने वेदी के चार खम्भे गाड़े जाते हैं। चार खम्भ के निकट १६ युवक १ जमादार, १ थानेदार, और १ बादशाह बैठते हैं। यह योजना माच के सौन्दर्य में उत्कर्ष प्रदान करती है। पृष्ठ के पाट 'बारह पाट के पाट' कहलाते हैं। जहाँ माच-मण्डली के कुछ विश्वास पात्र कार्यकर्ता और अभिनेता माच-नाट्य के अभिनय के अवसर पर उपस्थित रहते हैं। इसी तरह 'बारह पाट के पाट' के पास एक 'टेक का पाट' भी अवश्य रहता है, जिस पर अभिनेताओं के बोल झेलने के लिये कुछ व्यक्ति बैठते हैं और सामूहिक स्वर में 'बोल' और 'टेक' दुहराते हैं जिससे थके हुए अभिनेता को कुछ विश्राम का अवसर मिल जाता है।

---

१ मालवी में मंच शब्द के तीन और तद्भव रूप विद्यमान हैं पर उनके अर्थ भिन्न हैं यथा—'मचान' (भवन निर्माण के हेतु सहारे के लिये बाँधा जानेवाला तख्ता एवं खेत में रखवाली के लिये चार बल्लियों पर आधारित 'डामला'), 'माचा' (बैठने की बड़ी खटिया) और 'माची' (बैठने की छोटी खटोली)।

मंच के एक ओर कुछ अनुभवी वृद्धजन बैठते हैं। यदि बोल में कोई भूल हुई अथवा ढोलक की थाप में त्रुटि हुई या अभिनेता के पद-संचालन या हाव-भाव में कहीं असम्बद्धता आई तो वे संकेतों द्वारा सचेत करते हैं। माच के प्रणेता गुरु का आसन भी माच-मंच के एक ओर होता है जिस पर कोई बैठता नहीं। अब यह व्यवस्था एक प्रकार से निरीक्षण के रूप में है।

प्रकाश के लिये मशालची अपनी मशालों को मंच के तीन खम्भों पर लगा कर अपना उत्तरदायित्व निभाता है। तनिक भी मशाल में प्रकाश का अभाव हुआ नहीं कि वह उठ कर तेल में भरते हुए चमचट्टे भिगो देता है। आधुनिक युग में जहाँ विद्युत अथवा गैस-बत्ती (पेट्रोमेक्स) उपलब्ध हैं वहाँ मशालों की आवश्यकता नहीं पड़ती। माच-मंच की इस व्यवस्था में रंगशाला का कोई स्थान नहीं क्योंकि संबंधित पात्र मंच के निकट किसी स्थान में अपने वस्त्रादि परिवर्तित कर आ जाते हैं। मंच चारों ओर से खुला होने के कारण नेपथ्य नहीं होता। दर्शकगण कहीं से भी बैठ कर सम्पूर्ण गतिविधि देख सकते हैं, तो भी (देखिये माच-मंच का रेखाचित्र) सुविधा के लिए दर्शकों को तीन ओर ही बैठने दिया जाता है।



भरत के नाट्य-मण्डप के निर्माण का विधान अपने 'नाट्य-शास्त्र' (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) के द्वितीय अध्याय में विस्तार से दिया है। उसमें विकृष्ट चतुरस्र और त्र्यस्र—तीन प्रकार के मण्डपों का उल्लेख किया गया है। प्रथम देवताओं के लिये और शेष दो प्रकार मनुष्यों के लिए हैं। अन्तिम 'त्र्यस्र' जनसाधारण का मण्डप है। यद्यपि 'चतुरस्र' ही भरत की दृष्टि में उत्तम है तथापि प्रयोगानुसार मण्डप के

है। राजस्थानी में 'धाड़ी' शब्द का सामान्य अर्थ डाकू है। यों धाड़ी और डाकू में बहुत अन्तर है। 'धाड़ी' अन्याय के विरुद्ध लड़ कर शोषित की रक्षा करनेवाले हुआ करते हैं। ये धनवानों को डाकू की भाँति लूटते अवश्य हैं पर उस लूट की सम्पत्ति से निराश्रितों और दलितों की सहायता करते हैं। डाकू का यह आदर्श नहीं होता। यही कारण है कि 'धाड़ी' लोक-जीवन में वीर-पूजा की भावना से प्रतिष्ठित है। कई धाड़ियों के जीवन चरित्र मंच के विषय हैं। सम्भवतः इसी 'धाड़ी' से मालवी का 'धाड़ा' शब्द बना है जिसका अर्थ है डाका अथवा लूट-पाट के लिये किया गया आक्रमण। आदर्श वीरों के अभिनय की प्रवृत्ति सदैव ही रही है। मालवा में इसी 'धाड़ी' से मिलता हुआ 'डाग-डारी' का अभिनय वस्तुतः चरित्र प्रधान नाट्य का द्योतक रहा होगा। उपलब्ध जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है कि इस नाट्य-शैली में 'धाड़ी' चरित्रों के साथ-साथ धीरे-धीरे पौराणिक चरित्रों और कथानकों के समावेश की प्रवृत्ति बढ़ी जो आगे चल कर माच के लिए भूमिका निर्मित करने में सहायक सिद्ध हुई प्रतीत होती है।

धाड़ी राजस्थान की एक जाति भी है जिसका कार्य मन्दिरों में स्वांग करना अथवा गीत गाना है। कदाचित् उनके द्वारा प्रचलित खेलों को ही 'डाग-डारी' के खेल कहा जाता हो। उपयुक्त सामग्री के अभाव में इस परम्परा के संबंध में अधिक नहीं कह जा सकता फिर भी माच की पृष्ठभूमि 'डाग-डारी' के खेलों या किंवदन्तियों में प्राय उल्लेख मिलता है।

जान मालकम के संस्मरण

लगभग डेढ़ शताब्दी पूर्व मालवा के ग्रामों में कठपुतलियों के खेल दिखानेवाले एवं चतुर घुमन्तू अभिनेताओं के आगमन का उल्लेख सर जान मालकम ने किया है।[1] मालकम ने किसी बामूबा नामक एक ब्राह्मण अभिनेता के संबंध में लिखा है कि 'यह असंख्य यूरोपीय एवं भारतीय दर्शकों के सम्मुख (जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं) कई बार अपना अभिनय दिखा चुका था। यह अभिनय स्वयं उन्हीं के कम्प में हुआ था। मालकम का कथन है कि बामूबा नकल की कला में इंग्लैण्ड के ख्यातिप्राप्त माने हुए अभिनेताओं से किसी तरह कम नहीं था।'[2] इसी प्रकार उस समय के लोक-नाट्यों का उल्लेख करते हुए बताया है कि "उन खेलों के विषय प्राय पौराणिक कथानकों पर आधारित होते थे। कथानकों का स्तर तत्कालीन नरेशों और अधिकारियों के आदर्शों के अनुसार होता। हनुमान या ढूँढ़-ढूँढाले (बड़े पेट वाले) गणेश मंच पर आते हिन्दु देवताओं और अवतारों के स्वांग किए जाते और राजा मंत्री तथा उनके दरबारी प्राय परिहास के विषय बनाये जाते।[3] ग्रामीण जनता को उन खेलों में विशेष आनन्द प्राप्त होता जिनमें उनके यथार्थ जीवन की झाँकी होती। जिला अधिकारियों का घूस लेने का प्रकरण अथवा ग्रामीणों पर क्रोध करना और अधिकारियों की चापलूसी और उन्हें मंच के एक ओर घूस लेते हुए अथवा देते हुए बताना आदि परिहासों को देखने के लिये मालवी स्त्री-पुरुष माच के दर्शकों की भाँति उन दिनों रात-रात बैठे रहा करते थे।"[4]

१ मेमायरस् ऑफ सेन्ट्रल इण्डिया—भाग २, अध्याय / १४ पृष्ठ १९९।

२ वही—"ही वाज हार्डली इनफीरियर इन हिज लाइन (बर्लेस्क्युअर इन दी आर्ट ऑफ मिमिक्री) टू दि मोस्ट सेलिब्रेटेड परफार्मर्स इन इंग्लैण्ड।"

३ वही।

४ वही—पृष्ठ १९७।

मालकम के संस्मरण से यह स्पष्ट होता है कि १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मालवा में मनोरंजन के साधन ऐसे थे जिनका आधार ग्रहण कर निश्चय ही माच का प्रचलन किया गया प्रतीत होता है। पौराणिक कथानकों के साथ सामाजिक विषयों में लोक चेतना का रूप स्पष्ट लक्षित होता है। इन्हीं साधनों के स्थायी तत्व अपनाकर माच को अपना प्रमुख स्थापना का अवसर मिला।

ख्याल और माच

राजस्थान में भी माच 'ख्याल' के रूप में प्रचलित है। वस्तुतः ख्याल और माच भिन्न होकर भी तात्विक दृष्टि से एक हैं। माच के आदि प्रणेता बालमुकुन्द गुरु (जिसके संबंध में आगे विस्तार से उल्लेख किया जा रहा है) ने अपनी समस्त माच रचनाओं को 'ख्याल' कहा है। उनके अनुसार माच ख्याल है जब कि राजस्थान के ख्याल माच नहीं हैं। बालमुकुन्द गुरु ने अपनी माच रचनाओं के शीर्षक में ही माच और ख्याल के भेद को तिरोहित कर दिया है। "ख्याल माच का—ढोलामारूणी" 'असली ख्याल माच का—सेठ-सेठाणी' या 'ख्याल माच का—नागजी दूबजी' जैसे शीर्षकों से स्पष्ट है कि गुरु की दृष्टि में ख्याल और माच में भेद नहीं था।

'ख्याल' लोकभाषा का परम्परागत शब्द है।[1] अगरचन्द नाहटा ने भी जयशंकर शास्त्री के एक लेख का उद्धरण दिया है—"ऐसा कहा जाता है कि १८वीं सदी के प्रारम्भ के आस-पास ही आगरे के इर्द-गिर्द एक नई कविता शैली प्रचलित हो चली थी आगे चल कर जिसका नाम ख्याल पड़ा। ख्याल निश्चित ही उर्दू और फारसी के मसालों से तैयार चीज है। उनको नये-नये कथानकों में बाँधना सबका काम नहीं होता। इन ख्यालियों के कई दल थे जिनमें सभी प्रकार के लोग थे और सभी प्रकार की बंदिशें बाँधने वालों के बोल कभी-कभी होड़ भी लगाने लगते थे"।[2] (वैशाखनन्द, वर्ष २ अंक ७)।

इस उद्धरण से ख्याल का प्रारंभ १८वीं शताब्दी से होना प्रकट होता है किन्तु इस काल में रचित 'ख्याल' नामक काव्य भेद का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। कदाचित वे मौखिक रहे होंगे।[3] राजस्थानी में प्रचलित ख्यालों का उल्लेख करते हुए नाहटाजी उनके प्रचार का काल १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होना स्वीकार करते हैं। प्रमाण स्वरूप एच० एस० केलाग ने 'ग्रामर ऑफ दी हिन्दी लैंग्वेज' पुस्तक में 'डूंगजी जवारजी' ख्याल के कुछ अवतरण दिये हैं। नाहटाजी का अनुमान है कि 'स्काच प्रेस बिटेरियन मिशन' ब्यावर से प्रकाशित एवं पादरी रोबसन द्वारा सम्पादित जगदेव भार वाड़ी ख्याल की पुस्तक ही सर्वप्रथम है। आजकल तो ख्यालों की पुस्तकें एक बड़ी तादाद में उपलब्ध हैं। बालमुकुन्द गुरु ने संवत् १९०१ के पश्चात् माच रचना करना

१ लोक-कला, भाग १, अंक ९, पृष्ठ १०२।

२ वही " " ख्यालों की पूर्व परम्परा, पृष्ठ ६४।

३ मालवा में हास्यात्मक (कथा-गुण-युक्त) गीत 'ख्याली गीत' कहलाते हैं। स्त्रियाँ इन गीतों को मनोरंजन के हेतु गाती हैं। सम्भवतः इन्हीं ख्यालों से इस शैली का प्रचार लोकगीतों में हुआ हो। ख्याली गीतों में किसी घटना का परिहासात्मक रूप या परिहासपूर्ण संवादों की योजना रहती है। इस प्रवृत्ति से ख्याल रचनाओं का मनोरंजनात्मक उद्देश्य लक्षित होता है, संभवतः बाद में परिवर्तित हो गया हो।

४ लोक-कला, भाग १ अंक २ पृष्ठ ६१।

आरम्भ किया था। कदाचित् संवत् १९०१ के पूर्व ख्यालों से एक बड़ा जनसमूह प्रभावित हो चुका होगा। यही कारण है कि मुगलों में राजस्थान मथुरा आगरा कलकत्ता बम्बई आदि स्थानों की जनता को जब ख्यालों के रंग में रंगा देखा तो उसके ढंग को अपनी स्थानीय परम्परा के संयोग से अपना कर माच का उन्नयन किया। ख्याल यद्यपि लिखित ढंग की रचना है तो भी उसके पृष्ठ में गद्य पाठ्य और भवाई का प्रभाव निस्संदेह रहा होगा। यों स्थूल रूप में ख्याल और माच में बाह्य भेद नहीं है। तथापि उनके अन्तर को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित प्रकारान्तर भेद दृष्टव्य हैं।

आरम्भ की भूमिका और सामान्य लक्षण

(अ) ख्याल

१ सभी पात्र मंच से अन्यत्र किसी अन्य स्थान पर गणेश एवं सरस्वती की समवेत स्वर में स्तुति करते हैं।

२ मंच की सफाई के लिये भंगी (अभिनेता) का आगमन होता है जो अपना परिचय गा कर स्वयं ही देता है।

३ भिश्ती आ कर जल से मंच पर छिड़काव करता है यह भी गीत बद्ध बात कहता है।

४ हलकारा आ कर प्रधान नायक के आगमन की सूचना देता है। वह सदैव गढ़ बंगाले से आता है। (जैसे हलकारा गोपीचन्द का गढ़ बंगाले से—'राजा गोपीचन्द का ख्याल' अमराम भीमच वाला कृत।) हलकारा ही ख्यालकार का परिचय देता है। इसकी तैयारी के बाद ख्याल का आरम्भ होता है।

माच

१ माच-मंच पर ही समस्त अभिनेताओं और कार्यकर्ताओं द्वारा गणेश भैरूजी एवं माचकार की वन्दना की जाती है। साथ ही नगर के प्रमुख देवताओं की समवेत स्वर में स्तुति की जानी आवश्यक है।

२ माच में भंगी नहीं आता।

३ भिश्ती आ कर मंच पर अभिनयात्मक ढंग से छिड़काव करता है। वह सदैव भूपाली भिश्ती कहलाता है।[1]

"आया हूँ भूपाली भिश्ती। भूपाल मेरा गाम कर आया उज्जैन मेरा टुगा बस्ती। आया हूँ।"[2]

"भर भरवा मा पानी
छानी कर लायो रे नमन्दर तीर से
माता की म्हारी अमर बनी रे
कंचन डोल मंगाया।"

---

१ 'भूपाली भिश्ती' का अभिनय लगभग तीन घण्टे तक चलता है। इस बीच माच की अन्य व्यवस्था संपन्न कर ली जाती है। यों तो भिश्ती अपने माच के सीखतरों को अपने बोल के दो घूँट से सौन्दर्य का पान कराता है पर माच के पंडिताई उस्तादों का कहना है कि 'भूपाली—पृथ्वी को पालनेवाला राजा इन्द्र है। उसी का यह प्रतिनिधि भिश्ती आ कर छिड़काव करता है क्योंकि जहाँ माच होता है वहाँ देवताओं का आगमन संभव है।

२ गुरु बालमुकुन्द कृत नागजी दूदजी तीसरी आवृत्ति सं० १९८२ पृष्ठ ५।

म्हारी मसक का पानी जो पीस
गा घर कर दूँ भाया।"[1]

४ भिश्ती के बाद फर्राशन आती है जो गा कर मालवार गुरु की स्तुति करती है एवं मंच पर फर्श का आसन बिछाने का अभिनय करती है। उसके बोल भी लगभग आधा घण्टे तक चलते हैं। वह अपनी व्यक्तिगत बात भी कहती है जिससे कि उसके विषय में दर्शकों की सहानुभूति बनी रहे —

"भजी म्हारा पियुजी गया परदेस आसन को बिछावाजी।
बैठा सरीका थकिगी हमारा सूरज सरको तेज।
पलँग हमारी बड़क दीवारी चमके चारी सेज।
हाथ लगे हिवड़ो कुमलावे म्हारी मालक मसनी।"[2]

५ इसके पश्चात् गणेश और देवी की वन्दना। देवी के पंड का आगमन और फिर स्वयं देवी का आगमन और आशीर्वाद के बाद गुरु की जय के साथ माच का आरम्भ।

६ माच का आरम्भ अत्यन्त ही नाटकीय होता है। पूजन के पश्चात् प्रत्येक पात्र क्रमशः मंच पर आता है उस समय 'चोपदार' उसका परिचय देता है।

मालवा के सीमावर्ती क्षेत्रों में माच का स्वरूप कुछ भिन्न हो गया है। उसमें माच आरम्भ करने के पूर्व सभी पात्र मंच पर आ कर बैठ जाते हैं तब किसी निकटवर्ती जनभूमि से एक व्यक्ति मंगलाचरण जिसे 'भन्नाना'[3] कहते हैं, आरम्भ करता है और शेष सब उसे समवेत स्वर में दुहराते हैं।

इन माचों में कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। माच के प्रणयन-कर्ता अपने हाथों में माच की लिखी हुई बहियाँ लिये अभिनेता के पीछे चलते हैं। वे मंच पर ही बही में से पंक्तियाँ बोलते हैं और अभिनेता साज पर उन्हें दोहराता है। माच का यह स्वरूप अब लुप्त हो रहा है। इसलिए कुछ सीमित क्षेत्रों में इसका रूप दिखाई पड़ता है। मध्यवर्ती मालवा में उपरोक्त क्रम से ही माच किये जाते हैं।

(आ) १ उक्त भूमिका के पश्चात् दोनों में प्रधान नायक आ कर अपना आत्म-परिचय देता है। उसके पश्चात् क्रमशः अन्य पात्र आते हैं जिनमें माच अथवा ख्याल की कथावस्तु खुलने लगती है।

२ दोनों ही संगीत प्रधान रचनाएँ हैं। संगीत की दृष्टि से ख्याल में मालवी, राग रतवा बिहाग माड़ (जंगली टर) काफी सोरठ पारसी जंगली बरवो खमाच कलिंगड़ा भैरवी आदि रागों में 'टेर' (कवालकमन) पायी जाती है। माच की धुनें 'रंगत' कहलाती हैं जिनका आगे उल्लेख किया जायगा।

३ ख्यालों के कथोपकथन गीति प्रधान और संक्षिप्त होते हैं। राग-रागनियों से ही उन्हें विस्तार प्राप्त होता है।

---

१ गुरु बालमुकुन्द कृत भावजी दूबजी तीसरी आवृत्ति सं० १९८२, पृष्ठ ५।
२ वही
३ रामाविलास गुरु की परम्परा में भैरूँ गा कर धूम मिलती है।
४ मारवाड़ी गीतों की एक शैली भी 'धमाचन' कहलाती है जिसकी प्रमुख टेक—'हमारे करतार फिर नहीं बोलना।'

४ दोनों में अभिनय की अपेक्षा संवादों का महत्त्व प्रधान है।

५ अभिनेता अपने ढंग के अभिनय के लिये स्वतंत्र है। अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये अभिनेता लोक मंचीय 'गुर' (भेद) रखते हैं। अभिनेता 'स्वरूप' कहलाते हैं। कहीं उन्हें 'स्वांग' और 'रूप' भी कहते हैं। प्राय: सभी व्यक्ति साधारण समाज के होते हैं।

६ दोनों की कथावस्तु—पौराणिक ऐतिहासिक और प्राय: मौलिक एवं अर्धऐतिहासिक होती है। अन्त सुखान्त होता है।

७ दोनों में नेपथ्य का अभाव है और दृश्य-परिवर्तन कल्पना और अन्य संकेतों से समझे जाते हैं।

८ दोनों मध्य रात्रि में प्रारम्भ हो कर सूरज की प्रथम किरण के साथ समाप्त होते हैं।

९ दोनों में संगीत के साथ सामूहिक और व्यक्ति नृत्य की परम्परा विद्यमान है। 'सम' की थाप पर एक झटके के साथ अभिनेता नाच की गति में प्रवेश करते हैं।

यह सम्भावना व्यक्त की गई है कि ख्याल का प्रारम्भ आगरा के निकट १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक नई कविता शैली के रूप में हुआ है। किन्तु ख्याल का राजस्थान से विशेष संबंध है। आजकल राजस्थानी में लिखे हुए अनेक ख्यालों की पुस्तकें देखने में आती हैं। सम्भवत: राजस्थान में लोक-प्रचलित कथानकों की विपुलता एवं चारण और भाटों द्वारा उनके प्रचार, प्रश्रय तथा प्रोत्साहन से बाद में यह काव्यशैली अभिव्यंजना के हेतु अपना ली गई हो। राजस्थान में गायकों की पेशेवर जातियों से इसको गति प्राप्त हुई होगी और फिर लोगों द्वारा अपनाये जाने से स्वाभाविक रूप से प्रचार में सहायता भी मिली हो। यह स्पष्ट है कि लोकरुचि को प्रभावित करने वाले साधन प्रान्त की सीमा लांघ जाते हैं। ख्याल भी माच की भाँति मालवा और निकटवर्ती प्रान्तों में खूब प्रसिद्ध हुए।

गुरु बालमुकुन्द की तरह ख्याल के क्षेत्र में नानूराम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। नानूराम शेखावटी के चिड़ावा का निवासी था। गुरु की भाँति वह स्वयं मंच पर उतरता और अपनी मंडली को उचित निर्देशन दिया करता था। उसके बनाये हुए लगभग ६० ख्यालों का पता चला है।[1] नानू का समकालीन उजीरा तेली था जिसने १० ख्याल बनाये।[2] अन्य ख्यालकारों में सालाराम 'निर्मल' मूकरमल मिश्र, प्रेमसुख भोजक के नाम प्राय: लिये जाते हैं। माच के प्रोत्साहन में ख्यालकारों की परम्परा का निश्चय ही हाथ रहा है। माच के नाट्यों से यह स्पष्ट होता है।

माच और रास

माच यद्यपि ख्याल के बहुत निकट है किन्तु मध्यकालीन परम्पराओं से तनिक पीछे हटते ही रास की जो सामग्री उपलब्ध हुई है उसका यथोचित अध्ययन हमारी

१ देखिये लोक कला (भाग १ अंक १) में मनोहर शर्मा द्वारा प्रस्तुत सूची, पृ० ४४ अगरचन्द नाहटा की अंक २ में प्रस्तुत सूची भी देखिये पृ० ९६–१०४। (परिशिष्ट में उद्धृत)।

२ प्रेरणा अक्तूबर १९५४ में श्री गोविन्दराम वर्मा का 'शेखावटी के नामक ख्याल'—शीर्षक लेख पृ० ८०–८१।

लोक-नाट्य परम्परा की शृंखला को दूर तक खींच ले जाता है। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोक-मनोरंजन के लिये रास चर्चरी, फागु आदि शैली में गीति-नाट्य की रचना की जाती थी। इन नाट्यों का अभिनय उसी भाँति किया जाता था जिस तरह कुछ हेर-फेर के साथ आज माच में देखा जाता है। यद्यपि माच की परम्परा उसके नाम के अनुसार इतनी पीछे नहीं जाती तथापि शैली साम्य की दृष्टि से माच उक्त परम्पराओं से छूट कर स्वतंत्र रूप में विकसित परम्परा भी तो नहीं कही जा सकती है। इसे तो लोकधर्मी गीति नाट्य शैली कहना ही उपयुक्त होगा। भरत ने नाटक को "क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्" कहकर यही बात कही है, जो माच पर भी घटित होती है।

६ 'सिरी थूलिभद्द फागु' की कथा को स्थूल रूप से देखें तो उसे 'भासों' में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भास के अन्त में 'वस्तु' द्वारा कथा को विश्राम दिया जाता है। चूँकि प्राय: रास में कथावस्तु होती है और गेयता के साथ वे नाट्य रूपक हैं, अत: उदाहरणार्थ भासों के विभाजन क्रम को यहाँ देना संगत होगा —

भास १ मंगलाचरण, थूलिभद्द का पाटलिपुत्र वेश्या के संसर्ग का बद्ध होकर भवभव तक का वर्णन।

भास २ स्थूलभद्र का रंगशाला में प्रवेश और वर्षा का चारु चित्र।

भास ३-४ कोशा के नखशिख सौन्दर्य का वर्णन।

भास ५ मुनि को लुभाने के लिये कोशा के हाव-भाव का वर्णन।

भास ६ मुनि की चारित्रिक दृढ़ता एवं संयम की अटलता।

भास ७ उपसंहार, काम-विजय और देवताओं द्वारा पुष्प-वृष्टि, गुरु-आगम से समाप्ति।[1]

माच और रास में निम्नलिखित तुलनात्मक अन्तर उल्लेखनीय हैं —

१ रास में केवल पद्यात्मक संवाद योजना है। यद्यपि रास में नृत्य नाट्य की प्रतीति होती है जबकि माच में यह स्पष्टीकरण संवाद (बोल) और लौकिक रागों के निर्देश के कारण नहीं होता उसमें दृश्य योजना के संपूर्ण संकेत निहित हैं।

२ रास अधिकांश में यूरोप के 'मिराकल' या 'मिस्टिक प्लेज' की भाँति हैं जिनमें श्रीमद्भागवत की कथाएँ विभिन्न लीलाओं के रूप में की जाती हैं। इनका अभिनय मन्दिरों या अन्य पवित्र स्थानों में किया जाता था। माच ने लौकिक प्रेम-कथाओं का आश्रय लिया इसीलिये उनका अभिनय मन्दिरों में न हो कर खुले एवं सर्वसाधारण स्थानों में किया जाने लगा।

३ यात्रा रामलीला और रास के कथानक धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित हैं और माच की भाँति उनमें लोक-संगीत का प्राधान्य अवश्य है किन्तु गीत-संवादों द्वारा कथानक की सूत्र बद्धता कायम करने के लिये सूत्रधार आद्योपान्त मंच पर रहता है जिसका माच में अभाव होता है। माच में पात्र अपने संवाद की समाप्ति पर स्वयं हट कर एक

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक १ २०११ में 'सिरी थूलिभद्द फागु' लेख, पृष्ठ २१।

और खड़े हो जाते हैं और अन्य पात्र के आगमन के लिये मंच पर स्थान देते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अप्रत्यक्ष रूप से रास ने माच को प्रभावित अवश्य किया है। पद्यबद्ध नाटकों की प्राचीन परम्परा लोकधर्मी रही है। यही कारण है कि आधुनिक युग में गीति-नाट्यों का स्वरूप एक प्रकार से नाटक के क्षेत्र में बसा जा रहा है। रास अथवा रास-परम्परा ने प्रत्येक प्रान्त के नाट्य साहित्य को प्रभावित किया है। इस प्रभाव से ख्याल और माच अलग नहीं रहे।

माच के प्रवर्त्तक

१ बालमुकुन्द गुरु

मालवा में प्रचलित माच के आदि प्रवर्तक अवन्तिका निवासी बालमुकुन्द गुरु हैं। किंवदन्तियों के अनुसार गुरु बालमुकुन्द उज्जैन के भागसीपुरे में 'ख्याल' देखने जाया करते थे। उन दिनों नगर का आकर्षण इन्हीं ख्यालों में केन्द्रित हो रहा था। एक दिन भीड़ अधिक होने के कारण उत्सुकतावश वे मंच के एक छोर पर जा बैठे पर कुछ कार्यकर्ताओं ने उन्हें वहाँ से उठा दिया। अपमान का कड़वा घूंट पी कर आवेश में उन्होंने नगर के अंकपात में बटुक भैरव की इष्ट साधना की जिसका मंत्र उन्होंने सुखराम यती से प्राप्त किया था। कहते हैं साधना से प्रसन्न हो कर भैरू ने दर्शन दिये उन्होंने मंत्र और काव्य ज्ञान का वरदान मांगा। संवत् १९०१ 'सरसत हिरदे आवी' (सरस्वती हृदय में आवी) और गुरु जी ने माच रचना आरम्भ किया। इस किंवदन्ती से यह प्रकट है कि बालमुकुन्द गुरु के पूर्व अपने ग्रामीण रूप में मालवा में रंगमंच था जिससे प्रेरणा प्राप्त कर गुरु की प्रतिभा ने उसका नया स्वरूप अभिव्यंजित किया। मुसलमानों के शासन के पूर्व ऐसे मंचों के संबंध में कोई सूत्रबद्ध सामग्री के अभाववश इस विषय में प्रकाश डालना मात्र अनुमान गम्य है। अतएव माच के सन्दर्भ में ग्रामीण मंच की स्थिति का वास्तविक आकलन करना कठिन है।

१९वीं शताब्दी के द्वितीय-तृतीय चरण हिन्दी के रीतिकालीन पतनोन्मुखी समय के सूचक हैं। राज-दरबारों की विलासिता भक्ति पर हावी हो कर अपने विशुद्ध शृंगारी रूप में उभर रही थी। धार्मिक संघर्ष नहीं था। तो भी मंचों का प्रसार आरम्भ हो गया था। लोग खाते-पीते सुखी थे। वैचारिक संघर्ष के अभाव में खाना-कमाना आनन्द करना और जीवन के अन्त समय में भगवत् चिन्तन कर लेने में इतिश्री थी। मालवा आरम्भ से ही उपजाऊ रहा है अतः यहाँ की भूमि से आपत्ति और भी दूर थी। ठीक ऐसे समय बालमुकुन्द गुरु ने मालवी के माध्यम से लोकरंजन के उद्देश्य को लेकर माच नाम नाट्य शैली का प्रवर्तन किया। भक्ति वैराग्य शृंगार और वीरप्रेम भावनाओं का लोकग्राही रूप उनकी रचनाओं में लक्षित हुआ। आरम्भ में जिन पाँच माचों को उन्होंने रचा है उनमें उन्होंने 'मिथुनी कथा' है अर्थात् उनकी पृष्ठ भूमि मिथुनी कथा-वस्तु से संबंधित है।

रचनाएँ

गुरु बालमुकुन्द ने कुल ११ माचों की रचना की है जो क्रमशः खेले जाते हैं और जिनमें स्वयं गुरुजी मुख्य पात्र का अभिनय करते थे। आज भी उन्हीं के वंशजों

में यशोवृद्धि ही इस परम्परा का अधिकारी है। उक्त सोलहों रचनाओं की मूल प्रतियाँ गुरुजी की चौथी पीढ़ी[1] के पास सुरक्षित हैं।

छापेखानों के आरम्भ होते ही गुरुजी के माचों की मुद्रित प्रतियाँ बाजार में आ गईं। यह बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के पश्चात् ही सम्भव हुआ। यद्यपि उज्जयिनी में माच के खेलों की प्रतियाँ संवत् १९८२ के लगभग छपकर प्रकाशित हुईं, पर इसके पूर्व इन्दौर के किसी मुद्रणालय द्वारा इन्हीं माचों की प्रतियाँ मुद्रित कर प्रकाशित की जा चुकी थीं। कहते हैं उज्जयिनी में भी संवत् १९२० के लगभग माच के खेल छाप कर बेचे जाते थे पर उसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है। उज्जयिनी के 'दयाशंकर शालिग्राम बुकसेलर' ने गुरु के कुछ माच २०×१० की साइज में अलग-अलग छापे हैं। 'राजा हरिश्चन्द्र' (जो पुस्तकाकार संवत् १९८२ में प्रथम बार मुद्रित हुआ) के अन्तिम पृष्ठ पर प्रकाशक ने लिखा है— 'अमर हो कि जो खेल पहले छपे थे बस से इन्दौर वाले ने खेल छपाये सो वह सब अमतलब है। कड़ी में कड़ी नहीं मिलती कहिर बंदी से मतलब कहीं टूट है। किधर का हाथ किधर का पाँव किधर का धड़ किधर का मुँह लगा कर पूरा खेल ऐसा नाम करके लोगों को धोखा देने वास्ते छपाया है"

इससे प्रगट होता है कि संवत् १९८२ के पूर्व शालिग्राम बुकसेलर ने भी माच की कुछ पुस्तकें अलग छापी थीं। माच के अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण ही इन्दौर का कोई बुकसेलर उन्हें छापकर बेचने का लोभ संवरण नहीं कर सका। 'नागजी दूधजी' की तो उक्त संवत् में तीसरी आवृत्ति प्रकाशित हो गई थी। उसमें भी उक्त सूचना छपी है।

बालमुकुन्द गुरु के उपलब्ध माचों की प्रतियों के आधार पर निम्न सूची संवत् एवं आवृत्ति संख्या सहित दी जा रही है —

	नाम					प्रकाशक		
१	राजा हरिश्चन्द्र	आवृत्ति	प्रथम	संवत्	१९८२	शालिग्राम	बुकसेलर	उज्जैन
२	नागजी दूधजी	"	तृतीय		१९८२	"	"	"
३	ढोला मारवी	"	छठी	"	१९८५		"	"
४	मकन सैदापुरी	"	प्रथम	"	१९९०	"	"	"
५	रामलीला	"	प्रथम		१९८२			"
६	कुँवर रामसिंह	"	प्रथम	"	१९८२			"
७	सेठ सेठानी	"	षष्ठम	"	२००७		"	"
८	देवर भौजाई	"	दसवीं	"	२००९	"		"
९	राजा भरथरी	"	दसवीं	"	२००९	"	"	"
१०	गुन्दुर सालेवा		दसवीं	"	२००९	"	"	"
११	कृष्णलीला			अप्रकाशित				
१२	खेल राघव			"				
१३	चारण बंजारा			"				
१४	हीर राँझा			"				
१५	शिवलीला			"				
१६	बैताल पच्चीसी			"				

१ परिशिष्ट में वंश-तालिका प्रस्तुत है।

गुरु बालमुकुन्द ने अपने सभी माचों का अभिनय उज्जयिनी के जयसिंहपुरा में किया। आज भी वहीं उसी स्थान पर बालमुकुन्द गुरु की परम्परा के माच होते हैं। यह स्थान उस भैरव मन्दिर के सम्मुख है जिसे स्वयं गुरुजी ने बनवाया था। प्रत्येक माच के आरम्भ में दी गई 'भेरूजी की स्तुति' में इसका उल्लेख है।[1] जयसिंहपुरा माचों के कारण गुरुजी के समय एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। माच के आकर्षण से दर्शकों की एक बड़ी भीड़ वहाँ जिया करती थी। अपने एक पात्र द्वारा स्वयं गुरुजी ने इस बात को व्यक्त किया है—

"भोपाल सैर से चल कर आयो उज्जैन सैर देखूँ या बस्ती।
जैसिंगपुरा में माच बण्यो है मुलकों की आलम आ बस्ती।"

गुरु बालमुकुन्दजी के जीवन-काल में ही माच का प्रचार दूर-दूर तक हो गया था। उनकी मूल प्रतिलिपि करके उन्हीं के शिष्य गाँव-गाँव में फैल गये। अत्युक्ति न समझी जावे तो परम्परा हाथरस और पंजाबी तक पहुँची। गुरु के समकालीन सिंधिया नरेश (महाराजा सिंधिया) ने तो उन्हें ग्वालियर में आमन्त्रण कर माच का अभिनय करवाया था। निकटवर्ती होल्कर नरेश ने उनके माचों से प्रभावित होकर बहुत सी भूमि दान में दी थी।

गुरु बालमुकुन्दजी की मृत्यु संवत् १६६० में रविवार के दिन हुई।[1] कहते हैं उस समय वे 'मेंवापरी' का अभिनय कर रहे थे। अन्धविश्वासी लोग मेंवापरी को ही गुरु की मृत्यु का कारण समझते हैं। मंच से उठा कर ही उनका शव बनतीर्थ से जाया गया। शव-यात्रा के समय अर्थी के आगे-आगे उनके शिष्य माच गाते हुए चलने लगे। माच के संगीत से ही उनके शव का अग्नि-संस्कार किया गया। माच की प्रसिद्धि और माचकार के सम्मान का इससे बड़ा उदाहरण क्या हो सकता है?

गुरु का कण्ठ खुला हुआ और प्रभावी था। अभिनय के समय उनकी वाणी और व्यक्तित्व लोक-हृदय को प्रभावित करने में बेजोड़ थे। माच के प्रवर्तक के रूप में गुरु की साधना मालवी-लोक-नाट्य के क्षेत्र में अविस्मरणीय घटना है।

२ कालूराम उस्ताद

बालमुकुन्द गुरु के माचों की लोकप्रियता ने उज्जैन के प्रतिभाशाली कवि कालूराम उस्ताद को कुछ वर्षों के पश्चात् नवीन माच रचनाओं के सृजन की प्रेरणा प्रदान की।

---

१ रंगीला है भैरव का ध्यान
सारदा को हिरदा में ग्यान। टेक।
विसाल रूप मोटी-सी मूरत
करो दुस्मन की हान।
जैसिंगपुरा में राज तमारो,
थोर थारी कूँड में मान॥
कालो गोरो पालक मेरो,
खेल रच्या चोगान।
सबि का सनमान को देव
बार बुध कू बान॥ टेक॥

२ सत्य हरिश्चन्द्र पृष्ठ ५।

१ 'बालमुकुन्दजी संवत् १६६० साल में बैकुंठ को प्राप्त भये।'—मालवी गुरुजी, पृष्ठ ६८।

यह प्रेरणा वस्तुतः गुरु बालमुकुन्दजी की दूसरी पीढ़ी के साथ स्पर्धा के रूप में विकसित हुई। गुरु की मृत्यु के लगभग २० वर्ष के बाद हो कर भी अपनी प्रतिभा और परिश्रम के आधार पर कालूराम उस्ताद ने अपनी रचनाओं का अभिनय-क्षेत्र उज्जयिनी के दौलतगंज में बनाया। दौलतगंज माच के दूसरे अखाड़े का स्थान इसलिये भी बना कि स्वयं उस्ताद उसी मोहल्ले में रहते थे जहाँ उनकी पीढ़ी के लोग आज भी रहते हैं।

उनके माचों के नाम इस प्रकार हैं —

१ प्रह्लाद लीला	१० नागमती†
२ हरिश्चन्द्र	११ राजा बोमरतन†
३ रामलीला	१२ सूरजकरण-चन्द्रकला†
४ चित्र मुकुट†	१३ ढाल मुस्तानी
५ मधु मालती†	१४ राजा रिसालु
६ चन्द्रकला	१५ इन्द्रसभा
७ हीर रांझा	१६ छबीली भटियारिन
८ निहालदे सुल्तान	१७ त्रिया चरित्र
९ बाग मालम†	१८ हीरा-मोती

उक्त माचों का प्रचार बालमुकुन्द गुरु की रचनाओं के साथ होता गया। उक्त सभी रचनाएँ १९५० के पश्चात् आगामी १५ वर्षों के बीच लिखी गई प्रतीत होती हैं। कहते हैं उस्ताद की कुछ और भी रचनाएँ हैं जो पूर्ण नहीं हैं और उनके वंशज शालिग्राम जी के पास वे सब सुरक्षित हैं। कालूरामजी के माचों के प्रचार का कारण यह भी था कि उन्हें प्रथम बार बालाजन[1] नामक एक सुन्दर गायिका को मंच पर उतारा। बालाजन अपनी सुस्पष्ट, ऊँची और मधुर स्वर के लिये प्रख्यात रही है। इस प्रकार कालूराम उस्ताद ने बालमुकुन्द गुरु की उस परम्परा को जो स्त्री-पात्र को मंच के लिये वर्ज्य समझती थी तोड़ कर नया आकर्षण आयोजित करने में सफलता प्राप्त की।

कालूराम उस्ताद और बालमुकुन्द गुरु के अधिकांश माचों की कथावस्तु में विशेष भेद नहीं है। गुरु की अपेक्षा उस्ताद की रचनाएँ गँवारी अधिक हैं। गुरु और उस्ताद में जो भेद है वही भेद रचनाओं की प्रवृत्तियों में लक्षित होता है।

कालूराम और बालमुकुन्द गुरु—दोनों अखाड़े आज तक ग्रामीण जनता और नगर के लिये मनोरंजन के साधन बने हुए हैं। दोनों के बीच स्पर्धा संबंधी अनेक कथाएँ लोगों में प्रचलित हैं। यह स्पर्धा यहाँ तक बढ़ी कि एक-दूसरे के मंच से लोगों के बीच-बीच में पचपढ़ अपमानजनक व्यंग्योक्तियाँ कही जाने लगीं।

कालूराम उस्ताद के प्रमुख साथियों में सुखदेव और पन्नालाल लावनीबाज में काव्य प्रतिभा थी। उनकी अनेक कविताएँ संवत् १९९९ के सिंहस्थ में छपकर बहुत प्रसिद्ध हुई। उनमें तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकता का प्रभाव स्पष्ट है जिसका कालूराम उस्ताद की रचनाओं में भी प्रभाव है।

---

† प्रकाशित।

१ 'बालाजन' का ८४ वर्ष की अवस्था में सन् १९४८ की १५ जनवरी को देहावसान हुआ। दिल्ली की एक रेकार्ड कम्पनी ने उसके चार रेकार्ड तैयार किये थे जो कालूराम जी के पुत्र शालिग्राम जी के पास हैं। बालाजन मर्दाना वस्त्र धारण करती और सिर पर साफा बाँधा करती थी।

कालूरामजी का उपनाम 'दुर्बल' था। आपमें अभिनय की प्रतिभा न थी। केवल रचनाकार के नाते ही अपनी परम्परा चलाने में सफल हुए। लगभग ४० वर्ष की अवस्था में आपकी मृत्यु हुई।

३ भेरू गुरु

कालूराम उस्ताद के समकालीन उज्जयिनी के ही नये पुरे का एक दल भेरू गुरु की प्रेरणा से अपनी अलग परम्परा ले कर माच खेलने लगा। भेरू गुरु रचित १२ माचों की जानकारी डॉ० चिन्तामणी उपाध्याय को अपने अनुसंधान के क्रम में प्राप्त हुई है। उनके कथनानुसार जो पुस्तकें उन्होंने देखीं वे सभी हस्तलिखित एवं जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। नयापुरा का दल भेरू गुरु के ५ खेल तो प्रतिवर्ष करता ही है, यद्यपि माचों की संख्या १२ है जो निम्नलिखित हैं —

१ गोपीचन्द	७ प्रेम बेटा मोयना
२ राजा विक्रमाजीत	८ चमन कुँवर
३ पूरनमल	९ खेमसिंह धाकमरे
४ हीर-रांझा	१० मदन सेन
५ कुँवर केसरी	११ सीता-हरण
६ लाल सेठ	१२ सिंघासन बत्तीसी

अतएव स्पष्ट है कि उक्त माच-रचनाकारों के नाम माच की चार परम्पराओं का आरम्भ उज्जयिनी में हुआ जो आज भी विद्यमान है। उक्त ५२ माच रचनाओं में निम्नलिखित कथाओं को दो या दो से अधिक रचयिताओं ने अपनाया है।

१ हरिश्चन्द्र (बालमुकुन्द गुरु कालूराम उस्ताद)
२ रामलीला ( )
३ हीर-रांझा (बालमुकुन्द कालूराम भेरू राधाकिशन)
४ गोपीचन्द (भेरू और राधाकिशन)
५ खेमसिंह (बालमुकुन्द और भेरू)
६ त्रिया चरित्र (कालूराम और राधाकिशन)

प्राय सभी माचकारों की वही शैली और वही ढंग है जो बालमुकुन्द गुरु में थी। इस बीच मालवा के दूसर गाँवों ने भी अपनी परम्परा चलाना चाही किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

नये माचकार

राधाकिशन गुरु की परम्परा में नाथूसिंह उस्ताद ने (१) 'ध्रुव महाराज' और (२) 'सत्य नारायण की कथा' पर माच लिखे हैं। दूसरा माचकार सिद्धेश्वर सेन है, जिसने संवत् २ ५ और २०१० के मध्य (१) 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' (२) 'नल दमयन्ती' (३) 'नरसिंह मेहता' (नानीबाई को मामेरो) (४) 'भक्त प्रह्लाद' (५) दयाराम गूजर और (६) 'राजा रिसालू' खेलों की रचना नये ढंग से की है। राधाकिशन गुरु के माच के साथ कभी-कभी उक्त रचनाओं से किसी भी माच का अभिनय कर लिया जाता है। इन नये माचों में अश्लीलता का तनिक भी स्पर्श नहीं है यद्यपि कथाएँ प्राय ख्यालों से प्रभावित शैली में लिखी गई है। इस परम्परा में 'कल्यान भैरव की जय' बोली जाती है।[1]

---

१ कल्यान भैरव बड़ा पोल में बावन बीर अगवान।
हर दम हाजर रहे माच में ले तीर कमान।
—स्तुति की पंक्तियाँ

अन्य नये माचकारों में सेनाराम परमार ने (१) 'ध्रुव प्रह्लाद' एवं (२) 'निहालदे' की रचना की है। नीमच के ख्यालकार रामजीलाल बन्धु, मालवी नत्थाराम मुकेवाले रामरतन दरक बड़नगर के शिवरामजी व्यास भी उल्लेखनीय हैं। जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है उक्त चार परम्पराएँ ही मालवा की जनरुचि को प्रभावित किये हुए हैं। यद्यपि स्थूल रूप से मालवा के माचों की प्रवृत्ति शृंगारी है तथापि शिक्षा के अभाव में लिखे गये स्थानीय भाषा के इस साहित्य का इसलिये महत्त्व अधिक है कि यह पिछले डेढ़ सौ वर्ष से लगभग ६०—७० लाख मालवी भाषा-भाषी लोगों को सतत् रूप से प्रभावित करता आ रहा है।

वस्तु-विश्लेषण

कथा-वस्तु की दृष्टि से उपलब्ध माच-साहित्य (१) पौराणिक (२) प्रेम कथात्मक (३) ऐतिहासिक और लोक कथात्मक है। ऐतिहासिक कथानकों में शृंगार परक वस्तु का बहुत महत्त्व है। शौर्य के साथ प्रेम की व्यंजना कथानक का लक्षण है। धार्मिक वस्तु पौराणिक भेद के अन्तर्गत है। प्रेम कथात्मक एवं लोक कथात्मक माच स्थूल रूप से लोक परक है, जिसका स्वरूप या तो पूर्व प्रचलित ख्याल-परम्परा से लिया गया है अथवा किंवदन्तियों के आधार पर जिनकी रचना की गई है। 'ढोला मारूणी' ऐतिहासिक और लोक-काव्य दोनों है। बालमुकुन्द गुरु द्वारा प्रयुक्त कथावस्तु की स्थूल रूप-रेखा से ज्ञात होता है कि उन पर लोहवन के मदारी रचित ढोला का अधिक प्रभाव पड़ा है। कथा की जो संक्षिप्त योजना मदारी के 'ढोला' में है वही संक्षिप्तता गुरु के 'ढोला मारूणी' में पाई जाती है, फिर मदारी का ढोला निश्चय ही गुरु के पूर्व की रचना है जो ब्रज-क्षेत्र में खूब प्रचलित रही है।[1] गुरु का 'ढोला मारूणी' राजस्थानी 'ढोला मारूरा दूहा' अथवा 'छत्तीसगढ़ी लोक-गीतों का परिचय'[2] में संकलित ढोला अथवा ब्रज के ढोला काव्य की आत्मा से अनुप्राणित संगीत नाट्य मात्र है। प्रस्तुत माच में कथा ढोला के आगमन से आरंभ होती है। वह सांढ़नी (ऊँटनी) पर सवार हो कर आता है। यद्यपि मंच पर सांढ़नी नहीं होती केवल 'बोल' द्वारा उस सांढ़नी का 'आगम' अनुमानित कर लिया जाता है। उमर भाट का विरोध उसके द्वारा संदेह और रेवा द्वारा विघ्न पैदा करने की योजना की जाती है किन्तु अन्त में सुखद मिलन में कथा समाप्त होती है। यथाक्रम राजस्थानी ढोला के समस्त उपकरण—रेवा डाढ़ी सुआ करहुरा आदि कथा में योग प्रदान करते हैं। मालवी के इस माच में नल-दमयन्ती का प्रसंग अस्वाभाविक रूप से जुड़ गया है और ढोला नल का पुत्र बताया गया है।

कथा के विस्तार का अभाव प्राय सभी माच रचनाओं में है। 'नागजी दूदजी' 'निहालदे सुल्तान', 'सुवटुव सालंगा' 'राजा भरथहरी' आदि राजस्थानी ख्याल के कथानकों का निर्माण ख्याल के ढंग पर ही है। कालूराम उस्ताद के माचों में प्राय सभी कथानक शृंगारी हैं और उनमें प्रेमाख्यानी धारा की 'मधुमालती' 'चन्द्रकला' 'हीर-रांझा' जैसी कथावस्तुओं का सदुपयोग किया है। कुछ ऐसी कथाएँ हैं जो माच के अतिरिक्त ख्यालों की रचनाएँ अधिक हैं। 'राजा हरिश्चन्द्र' 'सेठ-सेठानी' 'ढोला मारूणी' 'देवर भौजाई' सुवटुव सालंगा' 'राजा भरथरी' 'चालन बनजारा' 'हीर-रांझा' आदि माचों की कथाओं

[1] देखिये डा० सत्येन्द्र का 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन'—पृष्ठ १०६ और १७७।

[2] श्यामाचरण दुबे—'छत्तीसगढ़ी लोक गीतों का परिचय।'

पर की कुछ ख्याल रचनाएँ मिलती हैं जिनमें इन कथाओं की लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है।

चरित्र चित्रण

माच में चरित्र-चित्रण के विस्तार के लिये सूक्ष्म तत्वों का आश्रय लेना सम्भव नहीं। संगीत शैली की संवाद योजना प्रत्येक चरित्र की उठान के लिये गायन के कौशल पर ही निर्भर है। मंच पर जो पात्र अच्छा गा जावे वही जनता की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है। आत्म-परिचय की पद्धति कभी-कभी चरित्र की अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालती है। प्राचीन रासों में यह प्रवृत्ति विद्यमान थी। अत माच में चरित्र-चित्रण का विस्तार थोड़ी ही मात्रा में संभव है।

पात्र

माच के पात्र दो भाग में विभक्त हैं (१) स्त्री पात्र और (२) पुरुष पात्र। प्राय प्रत्येक माच में पाँच स्त्री पात्रों का होना अपेक्षित है। अतएव पुरुष पात्र की अपेक्षा स्त्री पात्र की संख्या कभी-कभी अधिक हो जाती है।

नायक का प्रमुख साथी शेरमारखाँ कहलाता है (बालमुकुन्द गुरु के साथी ओंकारजी थे)। शेरमारखाँ विदूषक का अभिनय भी करता है जिससे जनता का मनोरंजन होता रहे। नायक को विश्राम देने के लिये शेरमारखाँ नायक का प्रतिनिधित्व भी करता है। गुरु बालमुकुन्दजी के समय स्त्री पात्र अभिनयार्थ गोविन्दा कुका टोडूलाल और लछमन की जोड़ें प्रसिद्ध थी। राधाजी कोमी बेनिया ब्राह्मण और माधीरथ पन्नेम ने भी माच में इस दिशा में प्रसिद्धि प्राप्त की।

अभिनय के समय पात्र का प्रवेश पूर्वपात्र द्वारा ही सूचित किया जाता है। प्रवाच्छनीय पात्र मंच के एक ओर बने रहते हैं। पात्र अपने बोल की समाप्ति पर स्वयं ही मंच के एक ओर जा बैठते हैं।

सवाद

माच के संवाद जैसा कि ऊपर बताया गया 'बोल' कहलाते हैं। ये बोल गेय हैं। गद्यात्मक संवाद माच में नहीं पाये जाते। प्रश्न भी पद्य-बद्ध होते हैं और उसके उत्तर भी।

रस और अलकार

माच के साहित्य में संगीत के अतिरिक्त बोल का विषय रस-सृष्टि का महत्वपूर्ण माध्यम है। श्रोता लोक-साहित्य की सहज अलंकारिता के बीच बोल की प्रत्येक उठान को ध्यान से सुनते हैं। साधारण उपमा रूपक यमक और अनुप्रास के उदाहरण माच में मिलते हैं। करुण शान्त और शृंगार का समन्वय रस की दृष्टि से उल्लेखनीय है। शेरमारखाँ नामक पात्र बीच-बीच में हास्य-रस की सृष्टि करता है।

दृश्य-योजना

दृश्य-योजना श्रोता और पात्र दोनों के लिये कल्पना-जन्य वस्तु है। पर्दों के अभाव में दृश्य का आभास कभी-कभी संवादों द्वारा प्राप्त हो जाता है। अन्यथा माच कल्पना से दृश्य की मानसिक उद्भावना की जाती है।

माच की धणगट

धणगट का तात्पर्य माच की छन्द-योजना और तन्त्र से है। माच के लिये वैसे कोई निर्धारित छन्द नहीं है किन्तु उसकी विशेष संगीत शैली ही उसके छंद का आधार

है। यद्यपि 'रंगतों' के रूप में धुन की परिवर्तनशीलता व्यक्त होती है तथापि छन्द रचना की दृष्टि से माच दूहों पर लिखे गये हैं। दूहे 'भगड़ी' 'चौकड़ी' और 'इकहरी' रंगत में गाये जाते हैं। 'खेला' की रंगत दूहों के बीच स्वर बदलने के लिये बजती है। जहाँ लोक-गीतों का प्रयोग होता है वहाँ दूहों की बंदिश नहीं रहती। परम्परागत धुन के बन्धन उसकी बनगट को प्रभावित करते हैं। इस तरह के गीत केवल प्रसंग विशेष के बीच में आते हैं और वो सामूहिक स्वरों में ही गाये जाते हैं। दोहों के स्वरूप इस प्रकार हैं।

॥ रंगत दोहरी ॥

हूँ तो म्हारे तारा लोचनी दार। सत को करो सभी सिणगार ॥टेक॥
पति हमारा सतवादी हरिचन्द सत की बांधी कार। सत धरम की नाव बनाई के उतरांगा समन्दर पार ॥१॥

टेक १५ मात्राएँ।
दोहा २९ मात्राएँ।

पे थी म्हारो पीयु गयो परदेस। बालम कहाँ बिलमाणो ॥टेक॥
बालम पर सतरंगी पचरा छीनी चादर वेस। तकिया और पुस्तकिया बेर्ये फूलां फूलोंकी सेज ॥१॥

टेक २५ मात्राएँ।
दोहा २६ और १० मात्राएँ।

दोहे की दूसरी दौड़ देखिये—

अभी सत का राजा सत की रानी
सत का बीमें भगमान पानी
अभी सत का पवन, सत का पानी
सत की रामे बोले बानी

मात्राएँ १६
मात्राएँ १४

और भी अन्य उदाहरणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि माच का दोहा २६ मात्रा से ४० तक दौड़ता है।

टेके के बाद दोहों में संवाद (बात) व्यवस्था होती है। प्रत्येक दोहे के बाद टेक दुहराई जाती है। जहाँ तक हस्तलिखित पोथियों का प्रश्न है, प्रत्येक प्रसंग के दोहों पर धुन का निर्देश लिखा मिलता है। कभी-कभी एक ही बोल में टेक भी बदल जाती है। माच के संगीत के संबंध में उल्लेख करते हुए बताया गया है कि माच की बनगट रंगतों के अनुसार बदलती है। टेक से ही रंगत का स्वरूप ज्ञात होता है और अन्तरा दोहा अंत में दौड़ता है।

संगीत-पक्ष

ढोलक माच का मुख्य वाद्य है। सारंगी उसकी सहगिन है। ढोलक की थाप और सारंगी की 'मीड़ों' पर बोल (संवाद) की चमत्कारी गमकती है। श्रोतागण बात के कौशल पर 'क्यों की है (क्या नहीं है?)' कह कर झूम उठते हैं। बालमुकुन्द गुरु

बढ़ने का मौका मिला और कुछ ऊँचे स्तर के लोगों का ध्यान इसकी ओर गया। खुसरो स्वयं जिस भाषा का प्रयोग अपनी रचनाओं में करते थे वैसी ही भाषा और उन्हीं के ढंग से शब्दों का प्रयोग नौटंकी के कथानकों में बढ़ने लगा।"[1] १८वीं शताब्दी तक आते आते नौटंकी समस्त उत्तर भारत में फैल चुकी थी। जहाँ-जहाँ लोक प्रचलित मनोरंजन के साधन विद्यमान थे उसका सम्पर्क नौटंकी की प्रवृत्तियों से होने लगा। इसलिये आगे चल कर यदि नौटंकी काफी विकृत वस्तु बन गई तो आश्चर्य ही क्या है।

उत्तर भारत में नौटंकी को स्वांग या भगत भी कहते हैं। स्वांग ठेठ ग्रामीण मनोरंजन है। संत तुकाराम के समय महाराष्ट्र में स्वांगों का प्रचार था। शृंगारिकता अथवा फूहड़ किस्म के अभिनय के कारण तुकाराम ने स्वांग का विरोध भी किया था। उनके समय स्त्रियों का वेष बनाने की प्रथा वैसी ही थी जैसी आजकल पुरुषों द्वारा स्वांग बनाने की। नौटंकी में मूँछवाले तक स्त्रियों के कपड़े पहन कर अभिनय के लिये मंच पर आते हैं यह भी एक प्रकार का स्वांग ही है। "स्त्री वेष घेतलेल्या नटाचें तोंड सुद्धां पाहूं न" (स्त्री वेष धारण करनेवाले नट का मुँह तक न देखना चाहिये) यह तुकाराम के एक प्रसंग में वर्णित है। श्रीधर स्वामी (१७वीं शताब्दी का आरम्भ) रचित 'शिवलीलामृत' ग्रंथ में तो यहाँ तक कहा गया है कि पुरुष को स्त्री वेष में देखते ही स्नान करना चाहिए। ऐसा देखने पर अध-पतन होता है और वेष धारण करनेवाले तो स्त्री हो कर ही जन्म लेते हैं।[2]

इसके पूर्व भी स्वांग का उल्लेख हिन्दी में उपलब्ध है। सिद्ध कवियों में कण्हपा (९वीं शताब्दी) ने और कबीर ने अपनी एक साखी में स्वांग का उल्लेख किया है। उत्तर भारत में आजकल डोम जाति द्वारा स्वांग करने की परम्परा है। कण्हपा ने इसी जाति की स्त्री डोमनी का स्वांग के हेतु आह्वान किया है—

"आलो डोंबि! तोए सम करिब म सांग निघिण कण्हपाली जोई लग"

जायसी ग्रंथावली में भी अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ में एक वेश्या जोगिन का स्वांग धारण करके पठायी जाती है। "पातुरि एक हुति जोगी सवांगी। साह अखोर हुत ओहि मांगी।" (बादशाह दूती खण्ड-१)। स्त्रियों द्वारा वेष बनाने की प्रथा अब उठने लगी है। इसीलिये पुरुषों द्वारा क्रमशः स्त्री का स्वांग धारण करने का रिवाज चल पड़ा। इसके पार्श्व में विनोद निहित है। पुरुष मनोरंजनार्थ स्त्री का स्वांग और स्त्री पुरुष का स्वांग बनाती है। स्त्री-स्वांग की प्रथा राजस्थान पंजाब मालवा और गुजरात की स्त्रियों में अब भी बची हुई है, जो मनोरंजन के हेतु विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर दूल्हा-दुल्हन की नकल आदि विभिन्न रूपों में दीख पड़ती है।

मध्यवर्ती भारत के गाँवों में माघ बेड़िनियों के 'राई' नाच हुआ करते हैं। इस अवसर पर गाँव के लोग हास्य उत्पन्न करने के लिये स्वांग करते हैं। बेड़नी भी बीच में स्वांग लाती है। ये स्वांग थोड़ी-सी पंक्तियों में होते हैं, जिनका उद्देश्य हास्य और शृंगार की सृष्टि करना मात्र होता है। बेड़नी का एक स्वांग गीत लीजिये —

---

१ हिन्दुस्तान साप्ताहिक : ६ सितम्बर, १९५७ : पृष्ठ ९५।

२ "पुरुषासि स्त्री वेष देखतां साचार। सचेल स्नान करावें॥
पुरुषांत नारी वेष देखतां। पाहुणार जाती अधः पाता।
वेष घेणार ही तत्वतां। जन्मो जन्मी स्त्री होय—।"





'नौटंकी' का एक दृश्य



मन में बस गइ मोरे
नैना रतनारे सूरत स्यामलं
राजा बिन मोई साव
कढ़ गई लड़कपन की देहरा
बिन मारें नैना बान
बोलों लगे मोई जाने
राजा अब मिल सताव
कढ़ गई लड़कपन की देहरा।—(बुन्देलखण्ड)

सन् १९१ की 'इंडियन एंटिक्विरी' (जनवरी) की फाइलों में रामगरीब चौबे द्वारा स्वांग की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। उनके अनुसार सन् १८११ के आस-पास अम्बाराम नामक गुजराती ब्राह्मण ने जो सहारनपुर में रहा करते थे नये ढंग से स्वांगों की रचना की। श्री दशरथ ओझा ने एक वार्ता के आधार पर दीपचन्द नामक एक स्वांगकार का उल्लेख किया है। कहते हैं इसका कला संबंधी उत्कर्ष १९वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। उसने शृंगारिकता का बहिष्कार किया और वीर-रस से परिपूर्ण स्वांगों की रचना की जिन्हें उनके शिष्य रोहतक की ओर ले गये जहाँ वे अब भी प्रचलित हैं।

ब्रज की ओर खुले रंगमंच पर नौटंकी के ढंग की भगत होती। डॉ० सत्येन्द्र का कथन है कि 'ब्रज' में दो प्रकार की भगत मिलती है—एक आगरा वाली और दूसरी हाथरस वाली। स्वांग भी हाथरस और रोहतक के भिन्न हैं। 'हाथरस की भगत' या नौटंकी का प्रचार नथाराम ने किया। उनकी भगत के चौबोलों की पुस्तकें बाजार में मिलती हैं। ये चौबोले छोटी तान के होते हैं। आगरा के चौबोले लम्बी तान के होते हैं। उर्दू का एक छन्द है—'बहरे तवील (बहर=छन्द तवील=लम्बा) जो लम्बा होता है, आगरा की नौटंकियों में विशेषतः पाया जाता है। उनके चौबोले इसीलिये लम्बी तान के होते हैं। मालवा निमाड़ और राजस्थान में 'किलगी-तुर्रा' नामक लोकरंजन का एक काव्य संगीतबद्ध साधन प्रचलित है उसमें चौबोलों पर लावनियों की शृंगारिकता हावी हुई। उसमें चलनेवाला संगीत प्रायः उसी ढंग का मिलता है। 'बहरे तवील' की एक पंक्ति है —

ये रावण तू धमकी दिखाता किसे,
मुझे मरने का खौफो-खतर ही नहीं।(नौटंकी रामायण)

भगतों में विविध प्रकार की लीलाएँ खेली जाती हैं। स्वांग का इनमें पूरी तरह से समावेश है। ऊँचे मंच पर ये भगतें मध्याह्न तक चलती हैं। नौटंकी में आल्हा-छंद का प्रयोग वीर-रस का उत्कर्ष प्रदान करने के लिये किया जाता है। भगतें भी वैसे ही आल्हा से प्रभावित हैं। जिस प्रकार मोरध्वज हरिश्चन्द्र आदि धर्म प्रधान कथानक भगतों में प्रचलित हैं, उसी प्रकार जानआलम भक्त पूरनमल सियाहपोश आदि शृंगार कथानकों का वर्णन आल्हा के ढंग पर इनमें मिलता है। 'बहर तवील' शृंगारी भावों को व्यक्त करने के लिये उपयुक्त है पर कई नौटंकियों में युद्ध आदि का वर्णन इसी छन्द में हुआ है। हाथरस की कई भगत-मंडलियाँ इन दिनों रामबागों से मिल जुल गई हैं। यद्यपि स्वतंत्र अखाड़े भी अपने-अपने क्षेत्र में गतिशील हैं। जहाँ संयोग वहाँ मिश्रित नाट्य परम्परा स्वाभाविक रूप से मंच पर दीख पड़ने लगी है।

नौटंकी, स्वांग या भगत का मंच खुले स्थान पर बनाया जाता है। मंच काफी ऊँचा बनाया जाता है। ऊँची-ऊँची बल्लियों पर शामियाने के ढंग का ढाँचा सजा कर खड़ा कर दिया जाता है। मंच के एक कोने में दर्शकों को दिखाते हुए नगाड़ेवाले बैठते हैं। नगाड़े की ध्वनि विशेष ढंग की होती है। जो इन्हीं प्रसंगों से संबंध रखती है। मालवा के माच में जिस प्रकार ढोलक का प्रमुख है उसी प्रकार नौटंकी में नगाड़ों का साम्राज्य है। नौटंकी या भगत का अभिनय देर रात्रि से प्रारम्भ हो कर प्रातःकाल तक चलता है। यही हाल माच का है। यहाँ कभी होड़ करने का प्रसंग आ जाये वहाँ समय का यह बन्धन भी अपना बाँध तोड़ कर आगे बढ़ सकता है।

हाथरसवाले नथाराम का ऊपर जिक्र किया गया है। लोगों में यह व्यक्ति नत्था के नाम से प्रख्यात है। नत्था की रामायण नौटंकी की जानी पहचानी वस्तु है। कहते हैं नत्था ने लगभग बीस नौटंकियाँ लिखी हैं। अन्य नौटंकियों के रचयिता फर्रुखाबाद के तिरमोहन कानपुर के श्रीकृष्ण राधेश्याम कथावाचक तथा सम्बरदार हैं। नौटंकियों के अखाड़े में होड़ होती है पर इनमें मौलिकता बहुत कम देखने में आती है। प्रायः सभी के विषय मिलते-जुलते हैं। वही कथानक और बहुत कुछ मिलते-जुलते संवाद। चीजों को तोड़-मरोड़कर अपनी बनाने की प्रवृत्ति विद्यमान है। कतिपय कथानक उर्दू की कृपा से नौटंकियों में स्थान पा गये हैं। आज ऐसे कथानकों से हिन्दी भाषा-भाषी सभी जन परिचित हैं। शीरीं-फरहाद सुल्ताना डाकू लैला-मजनू इन्दर-सभा आदि ऐसे ही कथानक हैं। शृंगार प्रधान कथानकों में लालबख्श प्रेमकुमारी जवानी का नशा आँख का जादू, त्रिया चरित्र इत्यादि उल्लेखनीय हैं। कठपुतली के खेल का प्रसिद्ध 'अमरसिंह राठौर' वीर-रस का स्वांग है। नौटंकी में यह इतिहास से अधिक निकट आ गया है। संगीत 'अमरसिंह राठौर उर्फ आगरे की लड़ाई' के नाम से छपित नौटंकी बाजारों में मिल जाती है।

छपित पुस्तकों की प्रतियों में जो भाषा सामान्यतः उपलब्ध है वह रीतिकालीन प्रवृत्तियों से पोषित एवं उर्दू शायरी से अधिक प्रभावित है। प्रांतीय भाषाओं का प्रभाव अभिनय के अवसर पर इन रचनाओं में झलकता है। ब्रज की भगतों में ब्रज भाषा अथवा पंजाब में पंजाबी का प्रभाव स्वाभाविक है। अभिनय के समय लिखित पोथियाँ केवल सहायक भर होती हैं।

नौटंकी स्वांग या भगत तीनों एक ही वस्तु है। कहीं स्वांग के नाम से नौटंकी विख्यात है, तो कहीं भगत के नाम से। स्वांग की प्राचीनता में सन्देह नहीं भगत मध्य काल की वस्तु है और नौटंकी प्राचीन स्रोत में रीतिकालीन अथवा उसके थोड़े पहले की ऐहिक प्रवृत्तियों की मिली-जुली धारा है। अमीर खुसरो की भाषा का प्रभाव नौटंकी में लक्षणीय है जो निस्संदेह मुसलमानी प्रभाव का प्रतिफल प्रतीत होता है।



भवाई

गुजराती और राजस्थानी रंगमंच का पूर्वेतिहास 'भवाई' नाटकों से संबंधित है। आज भी गुजरात और राजस्थान के गाँवों में भवाई मण्डलियाँ घूम कर खेल किया करती हैं। गुजरात में 'भवाई' बड़ा भद्दा और साधारण कोटि का होता है। इसका अभिनय करने के लिये किसी भी ऊँची भूमि मंदिर अथवा घर के चबूतरे पर लोक-मंच अस्थाई रूप से बना लिया जाता है। भवाई नाटक न तो संस्कृत नाटकों की भाँति अंकबद्ध होते हैं और न उनमें व्यवस्थित कथा का तारतम्य ही पाया जाता है। भवाई की प्रसिद्धि तो उसकी वेश भूषा दैनिक जीवन से संबंधित घटनाओं का अभिनय और धार्मिक कथाओं के विन्यास पर आधारित है। दो-तीन व्यक्ति कपड़ा तान कर खड़े हो जाते हैं तथा उसके नगारे और तेज आवाज वाले बाजों के साथ कभी सम्मिलित स्वर में या कभी स्वतंत्र रूप से आममेला गा कर अभिनय करते हैं। प्रारम्भ में गणपति की वंदना भवाई का अनिवार्य अंग है। स्वयं गणपति मंच पर आते हैं तत्पश्चात् अभिनय आरम्भ होता है। स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही करते हैं। साधारण जनता के लिये भवाई प्रबल मनोरंजन के माध्यम रहे हैं। इसमें अश्लीलता के प्रवेश के कारण जो भद्दापन एवं फूहड़ किस्म की चेष्टाओं का क्रमशः समावेश जब से होने लगा तभी से गुजरात के कतिपय विद्वानों द्वारा इसका विरोध आरम्भ हुआ। अतः भवाई प्रथा का धीरे-धीरे कम प्रभाव न केवल आधुनिक रंगमंच के कारण हुआ वरन् शिक्षितों द्वारा उसकी अश्लीलता के विरोध में जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ वह भी एक कारण था। गुजरात में रणछोड़ भाई उदयराम ने भवाई की अश्लीलता नष्ट करने के लिये अनेक नये नाटक लिखे। किन्तु ऊपरी तौर पर भवाई का यह विरोध जन को उसकी परम्परा से एकदम अलग न कर सका। भवाई करनेवाले तरगाळा जाति के लोगों की एक बड़ी संख्या यह काम फिर से करती रही। राजस्थान के भवाइयों के प्रति ऐसा कोई विरोध नहीं हुआ। भवाई जाति में अभिनय करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं क्षमता रही है। लोक प्रचलित परम्परा का इस प्रकार सहज ही लोप होना संभव नहीं था। उसके अभिनय की परम्परात्मक प्रणाली और हास्य के लिए स्थानीय विशेषताओं को ले कर विदूषक का अभिनय लोगों के मन में गहराई तक बैठे हुए थे। गुजराती में संस्कृत नाटकों का यह विदूषक 'रंगलो' कहलाता है। भवाई की अधिकांश सफलता इस 'रंगलो' पर निर्भर रहती है। नये मंच पर यही रंगलो लोक-नाटकों के माध्यम से अवतरित हुआ। गुजरात में रणछोड़ भाई उदयराम के अतिरिक्त दलपतराम नर्मदाशंकर, मणिभाई, मनुभाई, दिवाकर आदि ने मंच के लिये नवीन नाटक रचे पर जनभूमि में स्थिति आते देख उन्हें भी क्रमशः मंच से अपने संबंध शिथिल करना पड़े। एक शताब्दी पूर्व बम्बई में 'शंकर सेठ' का नाट्य-गृह आरम्भ हुआ था। उनकी पारसी-महाराष्ट्रीय अभिनय पद्धति से रंग ला कर अनेक नाटककारों ने लेखनी उठाई। रणछोड़

भाई ने सन् १८६१ के पश्चात् 'जयकुमारी-विजय' 'हरिश्चन्द्र' ललिता दुःख-दर्शन' आदि लिख कर भवाई के प्रभाव को कम करना चाहा। उनका यह प्रयास दोतरफा था। एक ओर पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के गलत प्रभाव को मिटाना तथा दूसरी ओर भवाई देखनेवाले लोगों की रुचि को परिष्कृत करना। इसी समय कुछ और गुजराती नाटक कम्पनियाँ स्थापित हुईं। सती द्रौपदी मीराबाई नृसिंह महता जैसी कथाओं का बोल बाला था। इन नाटकों के प्रति लोकप्रियता कम न थी। इस प्रकार ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों का भी प्रवेश हुआ। एक ओर नगरों में गुजराती नाटकों का मंच विकसित हो रहा था तो दूसरी ओर भवाइ की परम्परा अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी। साहित्यकारों के जन-सम्पर्क से अलग होकर काम करने की वृत्ति के कारण जो कुछ रणछोड़ भाई का स्वप्न था वह पूरा न हो सका।

कतिपय विशेषताओं के कारण 'भवाई' एक लोक-नृत्य का भी प्रकार माना जाता है। राजस्थान-मालवा में गुजरात की ओर से जो जन-प्रवाह बहा उसने भवाई का प्रचार दूर-दूर तक किया। भारतीय लोक-नृत्यों के उद्धारक देवीलाल सामर ने भवाई की राजस्थान और मालवा की उत्पत्ति बताया है। उन्होंने इस संबंध में एक कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है "आज से ४०० वर्ष पूर्व जब राजस्थान के गाँवों में भी सांप्रदायिक और जातीय भेदभाव के अंकुर उत्पन्न हुए ऊँचनीच के भेदभाव बढ़े पारिवारिक जीवन में विशृंखलता उत्पन्न हुई कला विलास और व्यभिचार का साधन समझी गई, ऊँची जाति के लोगों ने उसे तिरस्कार के योग्य समझ अपने से दूर ही रखा तो यह भावना गाँवों में सबसे अधिक राजपूतों और जाटों में देखी गई। यह लड़ाकू जाति थी। नृत्य और गान को ये लोग शौर्य और वीरता का शत्रु समझते थे। खेती करना और पशु पालना इनका मुख्य व्यवसाय था। इन्हीं जाटों में नागाजी नाम का एक जाट था जो केकड़ी नामक स्थान में रहता था। इसे बचपन से ही नाचने गाने का शौक था। यह बात जाटों को अच्छी नहीं लगी उन्होंने उसे मटका, मामा भूंगल और जाजम देकर अपनी जाति से निकाल दिया और कहा कि तू आज से ही हमारी जाति का नाच भवाई है और तुझे समस्त जाटों के मनोरंजन का अधिकार दिया जाता है। तब से नागाजी जाट और उसके परिवार वाले भवाई कहलाने लगे।"[1]

इस पद्धति का अनुसरण अनेक जातियों ने किया। नाच-गाने को अपने गौरव के विरुद्ध समझनेवाली ठसक सामन्ती प्रभावों से मुक्त थी। अतः भवाई जाति जो कि इस प्रकार अनेक जातियों से तिरस्कृत हो नाचने-गाने के लिये निकाले गये लोगों का संगठन थी सामन्ती व्यवस्था से प्रादुर्भूत वर्ग-भेद का परिणाम कही जा सकती है। निम्नवर्ग के लोगों ने भी अपने भवाई बनाए। जाट बाकड़ डांगी भील गूजर, लोढा कुमावत आदि जातियों के भवाई राजस्थान-मालवा में पाये जाते हैं। गुजरात के (भवाई) नाट्य इन भवाइयों के नृत्य-नाट्यों से काफी मिलते-जुलते हैं।

भवाई नृत्य नाट्यों के कुछ नाम हैं—'बोरा बोरी' (बनियों का खेल) 'सूरदास' (अन्धे और कुचरित्र साधू का खेल) 'डोकरी' (जिसमें बूढ़ा अपनी लड़की का विवाह एक वृद्ध से करता है—समाज की कुप्रथा पर हास्यात्मक व्यंग) 'लाड़ा-लाड़ी' (दो पत्नियों वाले अधेड़ की दुर्दशा—बहु-विवाह का कुपरिणाम) 'शंकरिया' (अनमेलविवे

---

१ लोककला (राजस्थान अंक, पहला भाग), पृ० १।









भवाई लोक-नृत्य

भाई ने सन् १८९१ के पश्चात् 'जयकुमारी-विजय' 'हरिश्चन्द्र' 'ललिता दुःख-दर्शन' आदि लिख कर भवाई के प्रभाव को कम करना चाहा। उनका यह प्रयास दोतरफा था। एक ओर पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के आंग्ल प्रभाव को मिटाना तथा दूसरी ओर भवाई देखनेवाले लोगों की रुचि को परिष्कृत करना। इसी समय कुछ और गुजराती नाटक कम्पनियाँ स्थापित हुईं। सती द्रौपदी, मीराबाई, नृसिंह मेहता जैसी कथाओं का बोलबाला था। इन नाटकों के प्रति लोकप्रियता कम न थी। इस प्रकार ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों का भी प्रवेश हुआ। एक ओर नगरों में गुजराती नाटकों का मंच विकसित हो रहा था तो दूसरी ओर भवाइ की परम्परा अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी। साहित्यकारों के जन-सम्पर्क से अलग होकर काम करने की वृत्ति के कारण जो कुछ रणछोड़ भाई का स्वप्न था वह पूरा न हो सका।

कतिपय विशेषताओं के कारण 'भवाई' एक लोक-नृत्य का भी प्रकार माना जाता है। राजस्थान-मालवा में गुजरात की ओर से जो जन प्रवाह बहा उसने भवाई का प्रचार दूर-दूर तक किया। भारतीय लोक-नृत्यों के उद्धारक देवीलाल सामर ने भवाई को राजस्थान और मालवा की उत्पत्ति बताया है। उन्होंने इस संबंध में एक कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है "आज से ४ वर्ष पूर्व जब राजस्थान के गाँवों में भी साम्प्रदायिक और जातीय भेदभाव के अंकुर उत्पन्न हुए ऊँचनीच के भेदभाव बढ़े पारिवारिक जीवन में विशृंखलता उत्पन्न हुई कला विलास और व्यभिचार का साधन समझी गई, ऊँची जाति के लोगों ने उसे तिरस्कार के योग्य समझ अपने से दूर ही रखा तो यह भावना गाँवों में सबसे अधिक राजपूतों और जाटों में देखी गई। यह लड़ाकू जाति थी। नृत्य और गान को ये लोग शौर्य और वीरता का शत्रु समझते थे। खेती करना और पशु पालना इनका मुख्य व्यवसाय था। इन्हीं जाटों में नागाजी नाम का एक जाट था जो केकड़ी नामक स्थान में रहता था। इसे बचपन से ही नाचने गाने का शौक था। यह बात जाटों को अच्छी नहीं लगी उन्होंने उसे नक्कारा माला मूँगल और जाजम देकर अपनी जाति से निकाल दिया और कहा कि तू आज से ही हमारी जाति का भाग भवाई है और तुझे समस्त जाटों के मनोरंजन का अधिकार दिया जाता है। तब से नागाजी जाट और उसके परिवार वाले भवाई कहलाने लगे।"[1]

इस पद्धति का अनुसरण अनेक जातियों ने किया। नाच-गाने को अपने गौरव के विरुद्ध समझनेवाली ठसक सामन्ती प्रभावों से युक्त थी। अतः भवाई जाति जो कि इस प्रकार अनेक जातियों से तिरस्कृत हो नाचने-गाने के लिये निकाले गये लोगों का संगठन थी सामन्ती व्यवस्था से प्रादुर्भूत वर्ग-भेद का परिणाम कही जा सकती है। निम्नवर्ग के लोगों ने भी अपने भवाई बनाए। जाट ढाकड़ डांगी मीणा गूजर, लोधा कुमावत आदि जातियों के भवाई राजस्थान-मालवा में पाये जाते हैं। गुजरात के (भवाई) नाट्य इन भवाइयों के नृत्य-नाट्यों से काफी मिलते-जुलते हैं।

भवाई नृत्य नाट्यों के कुछ नाम हैं—'बोरा बोरी' (बनियों का खेल) 'सूरदास' (अन्धे और दुश्चरित्र साधू का खेल) 'डोकरी' (जिसमें बूढ़ी अपनी लड़की का विवाह एक वृद्ध से करती है—समाज की कुप्रथा पर हास्यात्मक व्यंग) 'बाड़ा-बाड़ी' (दो पत्नियों वाले अधेड़ की दुर्दशा—बहु-विवाह का कुपरिणाम) 'शंकरिया' (कालबेलिये

---

१ लोककला (राजस्थान अंक, पहला भाग), पृ० १।







'भवाई' लोक-नृत्य

भाई ने सन् १८६१ के पश्चात् 'जयकुमारी-विजय' 'हरिश्चन्द्र' 'ललिता दुःख-दर्शन' आदि लिख कर भवाई के प्रभाव को कम करना चाहा। उनका यह प्रयास दोतरफा था। एक ओर पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के भौंडे प्रभाव को मिटाना तथा दूसरी ओर भवाई देखनेवाले लोगों की रुचि को परिष्कृत करना। इसी समय कुछ और गुजराती नाटक कम्पनियाँ स्थापित हुई। सती सौरारी मीराबाई, नृसिंह मेहता जैसी कथाओं का बोध बाला था। इन नाटकों के प्रति लोकप्रियता कम न थी। इस प्रकार ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों का भी प्रवेश हुआ। एक ओर नगरों में गुजराती नाटकों का मंच विकसित हो रहा था तो दूसरी ओर भवाइ की परम्परा अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी। साहित्यकारों के जन-सम्पर्क से प्रसन्न होकर काम करने की वृत्ति के कारण जो कुछ रणछोड भाई का स्वप्न था वह पूरा न हो सका।

कतिपय विशेषताओं के कारण 'भवाई' एक लोक-नृत्य का भी प्रकार माना जाता है। राजस्थान-मालवा में गुजरात की ओर से जो जन प्रवाह बहा उसने भवाई का प्रचार दूर-दूर तक किया। भारतीय लोक-नृत्यों के उद्धारक देवीलाल सामर ने भवाई को राजस्थान और मालवा की उत्पत्ति बताया है। उन्होंने इस संबंध में एक कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है "आज से ४ वर्ष पूर्व जब राजस्थान के गाँवों में भी साम्प्रदायिक और जातीय भेदभाव के अंकुर उत्पन्न हुए, ऊँचनीच के भेदभाव बड़े पारिवारिक जीवन में विशृंखलता उत्पन्न हुई तथा विलास और व्यभिचार का साधन समझी गई, ऊँची जाति के लोगों ने उसे तिरस्कार के योग्य समझ अपने से दूर ही रखा तो यह भावना गाँवों में सबसे अधिक राजपूतों और जाटों में देखी गई। यह लड़ाकू जाति थी। नृत्य और गान को ये लोग शौर्य और वीरता का शत्रु समझते थे। खेती करना और पशु पालना इनका मुख्य व्यवसाय था। इन्हीं जाटों में नागाजी नाम का एक जाट था जो केकड़ी नामक स्थान में रहता था। इसे बचपन से ही नाचने गाने का शौक था। यह बात जाटों को अच्छी नहीं लगी उन्होंने उसे नककाड़ा भाला मूंगल और जाजम देकर अपनी जाति से निकाल दिया और कहा कि तू आज से ही हमारी जाति का भाऊ भवाई है और तुझे समस्त जाटों के मनोरंजन का अधिकार दिया जाता है। तब से नागाजी जाट और उसके परिवार वाले भवाई कहलाने लगे।"[1]

इस पद्धति का अनुसरण अनेक जातियों ने किया। नाच-गाने को अपने गौरव के विरुद्ध समझनेवाली ठसक सामन्ती प्रभावों से मुक्त थी। अतः भवाई जाति जो कि इस प्रकार अनेक जातियों से तिरस्कृत हो नाचने-गाने के लिये निकाले गये लोगों का संगठन थी सामन्ती व्यवस्था से प्रादुर्भूत वर्ग-भेद का परिणाम कही जा सकती है। निम्नवर्ग के लोगों ने भी अपने भवाई बनाए। जाट ब्राह्मण ढांगी मीणा गूजर, लोधा कुमावत आदि जातियों के भवाई राजस्थान-मालवा में पाये जाते हैं। गुजरात के (भवाई) नाट्य इन भवाइयों के नृत्य-नाट्यों से काफी मिलते-जुलते हैं।

भवाई नृत्य नाट्यों के कुछ नाम हैं—'बोरा बोरी' (बनियों का खेल) 'सूरदास' (अन्धे और कुचरित्र साधु का खेल) 'डोकरी' (जिसमें बूढ़ा अपनी लड़की का विवाह एक वृद्ध से करती है—समाज की कुप्रथा पर हास्यात्मक व्यंग) 'बाका-बाकी' (दो पत्नियों वाले अधेड़ की दुर्दशा—बहु-विवाह का कुपरिणाम) 'शंकरिया' (कामवेगिये

१ लोककला (राजस्थान अंक, पहला भाग), पृ० १।







भवाई लोक-नृत्य

युवक का योगन अथवा धपेरी से प्रेम का अभिनय) 'बीकाजी', 'बाबाजी' 'ढोलामारू' आदि। गुजरात में यद्यपि इन्हीं नाम के खेल नहीं मिलते पर सामाजिक जीवन से संबंधित कथानकों में काफी साम्य है।

इन समस्त नृत्य-नाट्यों में अभिनय के साथ लोकगीतों का गायन भी होता है। सारंगी नफीरी नगारे, ढोल और मंजीरों का प्रयोग वादकार करते हैं।

भवाई का किसी समय पर्याप्त प्रचार था। जन साधारण में से लोक-रंजन के हेतु परिहास की सामग्री खोज लाना भवाई-अभिनेताओं के लिये सहज बात रही है। बालक को सुलाने के लिए प्रयुक्त थे थे थे, थे, थे ताता, थे शब्द भवाई में नृत्य के बोल का काम करते हैं। इसी से गार्हस्थ्य जीवन से लिया गया परिहास-प्रकरण का ज्ञान हो जाता है।

गीतों में भवाई की कमी नहीं। प्रेम संबंधी एक दोहा है

'सामेरी सामर पस्तुचमा ने रतन तलावा जाय
कर महिदोर भरे गूदडी लेना सामने हाथ भराय।'

साहित्य में भवाई को विशेष महत्व नहीं मिला है। गम्भीरतापूर्वक इस पर विचार किया जावे तो ऐसी कितनी ही सामग्री भवाई के अन्तर्गत मिलेगी जिसे साहित्य की दृष्टि से गौरव प्राप्त हो सकता है। गोवर्धनराम ने 'सरस्वतीचंद्र भाग १' में बुद्धिधन के कुटुम्ब की स्त्रियों का वर्णन करते हुए लिखा है

'गूहाली सो नार ने नाकड़े मोती।'

भवाई में यह पंक्ति इस प्रकार प्रचलित है —

'गुहाली सी नार ने नाके मोती
पियु परदेश ने बाखड़ी जोती
उडकती काय ने मचती रे बहाड़ा
ये भीलागीए नागर वाड़ा।

इन्हीं पंक्तियों की भांति दूसरी पंक्तियां देखिये —

'घामनी घामरी घाकले घाई
वमेबोती से बांधचे भुकाई
बांधचे माय मा पेटे वाड़ा
ये भीलागीए ब्राह्मण वाड़ा।

नाटकों में नवीन शास्त्रों के संचारार्थ भवाई में लोकोन्मुखी अनेक विशेषताएँ हैं। उसमें नृत्य-नाटिका के गुण तथा नृत्यों के साथ गीतों के प्रयोग की प्रवृत्ति का पूरा समावेश है। नृत्य-प्रसंग में अभिनेता नृत्य करते हुए ही लोगों के सामने आते हैं। किस प्रकार के नृत्यों का प्रचार पहले था यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह खोज करने का विषय है। गुजरात में तबले के भिन्न भिन्न बोल नृत्य के विभिन्न प्रकारों की सम्भावना व्यक्त करते हैं। भवाई के नृत्य अवश्य ही खास ढंग के होंगे। कुछ देशी नाच के संग ठुमरियां तथा रेख्ता का प्रयोग कभी-कभी होता पाया जाता है। कुछ विशिष्ट छंद तो नृत्य के 'बोल' बोल कर कहे जाते हैं। अतएव भवाई में संगीत का प्राधान्य काव्य के साथ रहा है। झूमा झूमने के प्रसंग में दीन-दरवेश की कई झुंग लियां भवाई में कही जाती हैं।

'महुड़ी तेरी छाया में बैठे तीन फकीर
कहाँ सोहये बाग में कहाँ सरोवर तीर
कहाँ सरोवर तीर अनोपम तेरी छाया
बैठ तीन फकीर भी कहीं तीन गुमाया
कहत तीन दरवेश सुनो सुन जीवो जड़ी
बैठे फकीर छाम में तेरे महुड़ी ।

इन्हीं पात्रों द्वारा लम्बे और विलम्बित लय में गीत कहे जाते हैं। उनमें नृत्य के अन्तर्गत ताल का प्राधान्य होता है। ऊँची आवाज में गाने की प्रथा है। गीतों की पद्य रचना नृत्यों के अनुरूप ही प्रतीत होती है।

राजस्थान-मालवा की ओर भवाई के गीतों में हास्य के साथ प्रेम के उत्कृष्ट भावों का निर्वाह पाया जाता है। बाबाजी के खेल में जारमती कहती है —

'नेवारा सरवर कई प्रीतरी बांधू पाल ।
जारमती जल की मीछिया, बाबो जाले जाल ।।'

श्री रामनारायण पाठक ने 'भवाई अने तरगो' नामक अपने लेख में इस पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए लिखा है —

" तेमा पण नृत्यनो ताल प्रधान हतो अने गीत नी छेवटनी पंक्तियों प्रधान ताल थी द्रुत लयमा नृत्य साथे भवाडी भवो गीतों छ प्रयोग भी भवाई घणुं अने नथी। अहा एक दृष्टांत आपु छुं जेने अन्य रचना न जेनी नृत्योचितता सूचवे छे। के डाकना वेष मां ढोला मारुनां गाना आवे छे तेमांनी एक छे मढ़ छ —

'आछी ढोलो लाग्यो रे राज ने आछो ढोलो रे
लीवरी ढोली लाग्यो रे राजन लीवरी ढोलो रे
लीने बरसती सुन्दरी गोरी जल भरवाने जाय
कांठो बाल्यो प्रेमनी ये तो ऊभी ऊभी ढोला वाय
राज ने आछो ढोलो रे

इस गुजराती भवाई में स्वर की कमी अवश्य सिद्ध होती है जो राजस्थानी में नहीं है। कहीं-कहीं कवि के नाम की छाप लगाई जाती है। प्राय प्रचलित रचनाओं से बिना नाम के ही कवि का ज्ञान हो जाता है। 'रिसया' में नृत्य के बोल जोड़ दिए जाते हैं और कभी-कभी रचयिता का नाम बाद में बोल कर दर्शकों को कवि के नाम से परिचित कराया जाता है।

भवाई का अध्ययन गुजराती नाटकों के पृष्ठ में अपना वैशिष्ट्य रखता है। किसी समय समस्त गुजरात में भवाई लोकप्रिय मनोरंजन का साधन था। यद्यपि एक और अन्य प्रकार का मनोरंजन भी गुजरात में प्रचलित है जिस पर मथुरा के रासों का प्रभाव स्पष्ट है। वैष्णवों के प्रभाव से ही उसमें राधा-कृष्ण की लीलाएँ और अम्बा माता की पूजा का प्रचलन हुआ।

१६वीं शताब्दी के पश्चात् नवीन नाटक जो मंच पर आये उनमें अभिनय भी नहीं। भवाई के साम्य में भी लिपिबद्धता पहले से ही न थी। ऐसी स्थिति में यह सम्भव न हो सका कि भवाई का यथोचित विकास होकर गुजरात प्रान्त की नाट्य-परम्परा विभूषित हो।

— •• —

जात्रा (यात्रा), गम्भीरा और कीर्तनिया

बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिये भारतवर्ष एवं निकटस्थ देशों में कतिपय उत्सवों का माध्यम लिया था। चीनी यात्री फाहियान ने अपने यात्रा वर्णन में पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के कुछ ऐसे उत्सवों का विस्तृत वर्णन किया है। रथयात्रा का उत्सव ऐसी ही परम्परा रही है जिसका निर्वाह उन दिनों खोतन और पाटलिपुत्र में बड़ी धूम-धाम से किया जाता था। इसी भाँति जगन्नाथजी की रथयात्रा अथवा अन्य यात्राएँ कालान्तर में पूर्ण आडम्बर-युक्त होकर प्रचलित होती गईं। यहाँ जिस यात्रा का वर्णन किया जा रहा है, वह यद्यपि उक्त उत्सवों से भिन्न है परन्तु जिसका सम्बन्ध बंगाल के संगीत नृत्य और नाट्य परम्परा से प्रमाणित सिद्ध है। यों नाट्य परम्परा से आबद्ध 'यात्रा' अथवा 'जात्रा' जैसी धार्मिक यात्राओं से किन्हीं अंशों में जुड़ी हुई है।

जात्रा (यात्रा) का अर्थ है जुलूस या उत्सव। भवभूति कृत 'मालती माधव' में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बंगाल उड़ीसा और मिथिला में यात्रा की परम्परा भिन्न-भिन्न नाट्यों-नृत्यावलियों के रूप में प्रचलित है। भक्तजन अपने आराध्य की उपासना के हेतु आरम्भ में कीर्तन करते और नाचते-गाते किसी विशिष्ट स्थान तक पहुँचा करते थे। आज भी मन्दिर अथवा देवस्थानों तक भक्त-मण्डलियाँ अपने उपास्य की लीलाएँ करती हुई गाँवों या नगरों के मार्ग से यात्रा करती हैं। कदाचित् यात्रा अथवा 'जात्रा' का यही प्रारम्भिक स्वरूप हो। श्री सुकुमार सेन ने "बंगला साहित्येर कथा" में यात्रा शब्द का अर्थ देवपूजा के निमित्त आयोजित मेला जुलूस और नाट्य गीत बताया है।[1] प्रारंभिक युग में नाटक और धर्म का परस्पर सम्बन्ध रहा है। कृष्ण की लीलाओं के प्रदर्शन जनपदों के अपने लौकिक नाट्यों में सदा से प्रचलित रहे हैं। यात्रा शैली में ये विषय खूब खिले हैं। प्रान्तीय भाषाओं में गीत और संवादों के माध्यम से अभिनय को जो समरस प्रदान करने वाले तत्व प्राप्त हुए हैं वे परम्परा की सृष्टि के करने लिये पर्याप्त थे। विद्वानों का तो विश्वास है कि बीच में संस्कृत-नाट्यों की परम्परा जहाँ टूटी है वहाँ बंगाल की "जात्रा" जैसी ` अपने उत्कृष्ट स्वरूप को लोक प्रचलित बनाये रखकर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।[2] ए० बी० कीथ के मत से वैदिक-काल के ऋतु-उत्सवों से सम्बन्धित नाटकों का स्वरूप यात्रा के अनुरूप था। यह तो अनुमान लगा सकता है कि वैदिक युग में यात्रा (जात्रा) का ही प्रचार था। यह कहना उपयुक्त होगा कि संभवतः नाटकों का लोक प्रचलित स्वरूप उन दिनों बना रहा होगा और तभी से हम आज की जात्रा का सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। डा०

१ पृष्ठ १४१ पर देखिये।

२ कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ४०।

बीच के विचारों में यात्रा नाटकों में तत्कालीन लोक नाट्य की शैली जीवित है, किन्तु यह वह शैली नहीं है जिसका हम वैदिक नाटक से सम्बन्ध जोड़ें।[1]

आगे चलकर प्रत्येक प्रान्त में लोकनाटकों की परम्पराओं का विकास हुआ। ये परम्पराएँ मूल स्वरूप में भले ही समान तत्वों की वाहक हों पर स्थानीय रंगों और भाषाओं से उनमें पर्याप्त भेद लक्षित होते हैं। यात्रा के अतिरिक्त बंगाल में कविगान कीर्तन पांचाली और कथकता जैसी उपविधाएँ प्रचलित रही हैं। नाटक की कोटि में यात्रा ही सर्वोपरि है और वर्तमान काल में साधारण जनता के मंच की शोभा है। जैसे पांचाली अथवा अन्य गीतों को यात्रा में सम्मिलित कर लिया जाता है।

१३वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी के अन्त तक बंगाल में साहित्य सृजन के प्रति शैथिल्य आ गया था। लोगों के मनोरंजन तब भी बन्द नहीं हुए। राजनैतिक दृष्टि से मध्ययुगीन अवस्था बहुत कुछ अविरोधात्मक थी। फिर भी लोगों में रामायण और महाभारत के आख्यान कृष्ण-लीला संबंधी गीत मनसा चंडी वासुली और शिव के गीत उन्मुक्त भाव से गाये जाते थे। बंगाल में तुर्कों के आधिपत्य के कारण नाटकों का विकास एकाएक रुक गया था। यात्रा के रूप में धार्मिक और पौराणिक कथानक लोक मंच के विषय तब भी बने रहे। प्राचीन नाट्यों पर शैव नाट्यमण्डलियों का प्रभाव था। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से सरस-संगीतमय पदावलियों में कृष्ण लीला संबंधी गीत-कथाएँ अभिनय के साथ प्रस्तुत की जानी आरम्भ की गईं। इस तरह कृष्ण यात्रा का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बहुत ही पहले चंडीदास ने कृष्ण कीर्तन की रचना की थी। गुणराज खाँ ने भी श्री कृष्ण विजय' रचना लिखी थी। अतः कृष्ण की मधुर लीलाएँ भक्त कवि की तन्मयता से प्रसूत हो बंगाल बिहार, उड़ीसा ही नहीं और भी दूर तक प्रसरित हुईं। लोचनदास (सन् १५३३–१५८९) ज्ञानदास बलराम एवं यदुनाथदास जैसे कवियों ने प्रभु का अनुसरण किया। डा० सेन ने यात्रा के विषय में लिखा है कि यात्रा के अभिनय का सर्वप्रथम उल्लेख सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्राप्त होता है। उस समय चैतन्य महाप्रभु (१४८६–१५३३) का बंगाल पर पूरा प्रभाव था। कहते हैं चैतन्यदेव ने स्वयं अपने मौसा के घर में 'रुक्मिणी-हरण' का अभिनय किया था। यह अभिनय यात्रा की ही शैली में था। चैतन्य रुक्मिणी बने थे और उनके साथी नरहरि राधा।[2] वस्तुतः यात्रा के उद्धार और प्रचार का संपूर्ण श्रेय चैतन्य महाप्रभु को प्राप्त है। १६वीं शताब्दी के पश्चात् कृष्ण और राधा प्रायः यात्रा के विषय बने रहे। जयदेव चंडीदास विद्यापति एवं अन्य कवियों की रचनाएँ यात्रा की भूमिका में प्रश्रय पाने लगीं। वैष्णव धर्म को एक ओर यात्रा के द्वारा पर्याप्त विकसित होने का अवसर मिला तो दूसरी ओर यात्रा नाट्य ही कृष्ण लीला का पर्याय बन गया। चाहे कोई भी कथानक हो। परोक्ष-अपरोक्षतः वह कृष्ण लीला से ही संबंधित हो जाते थे। कहते हैं कि 'कालिया-दमन' सम्बोधन भी यात्रा का ही पर्यायवाची था। शत वर्ष की साल तक यात्रा की यह धारा अबाधगति से बंगाल की भूमि पर बहती रही। महाराष्ट्र तक इसका प्रभाव आगे चल कर प्रकट हुआ। 'दशावतार' और 'ललित' में यात्रा का साम्य ही दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण संभवतः इतिहास के उस प्रसंग से

१ वही, पृष्ठ १५।

२ देखिये, बंगला साहित्येर कथा, पृष्ठ १४०।



जात्रा (यात्रा) का एक मृदग-वादक

कृष्णलीला पर आधारित एक मणिपुरी लोक-नृत्य

संबंधित है जबकि बंगाल के कुछ परिवार पश्चिम कोंकण में जाकर बसे थे। कोंकण में जो गौड़ सारस्वत हैं उनका आगमन बंगाल से ही हुआ था। (बंगाल को गौड़ प्रदेश कहते भी हैं) अतएव यात्रा का सुदूर प्रान्तों में प्रचार का कारण परिवारों का एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाकर वहाँ की सभ्यता और संस्कृति से घुल-मिल जाना है।

उड़ीसा में 'पटुआ' जाति के लोग अपने इष्ट की आराधना में यात्रा आयोजित करते हैं। पट का व्यवसाय वे ही लोग करते हैं। यद्यपि उड़ीसा में पटुओं का यह व्यवसाय नष्ट हो चुका है तथापि मूल में यह जाति चित्रकर्म किया करती थी। पटुआ संगीत पर लिखते हुए मौरिस ने एक वृद्ध पटुए से सुनी हुई एक कहानी का उल्लेख किया है। उसके अनुसार पटुए चित्रकर्मा की संतान हैं। दुर्भाग्यवश आज उनकी अवनति हो गई है क्योंकि एक बार उनके किसी पूर्वज ने शिव की अनुमति के बिना उनका एक चित्र बनाया था। शिव ने क्रुद्ध होकर शाप दिया। तभी से पटुए मुसलमानों की भाँति प्रार्थना करते हैं और हिन्दू देवताओं के चित्र बनाते हैं।[1] इस कथा से निश्चय ही पटुआ शिल्पी जाति के सिद्ध होते हैं। उड़ीसा के पटुओं में लोक कथाएँ गानेवाले गायकों का बहुत प्रभाव है। इन्हीं लोगों द्वारा यात्राएँ आयोजित की जाती हैं। यात्रा में छः सात व्यक्ति होते हैं जिनमें गायक और वादक के अतिरिक्त एकवादी का वेष कोई पुरुष धारण करता है। वही यात्रा की नृत्य-नायिका होता है। पहले यात्रा का कर्म अव्यवस्थित हुआ करता था। उसमें चाहे जैसे नृत्य और अभिनय प्रचलित थे। १६ वीं शताब्दी के मध्य में कृष्णकमल गोस्वामी के प्रयत्नों से यह परम्परा कदाचित् परिष्कृत हो सकी। डॉ० दे का कथन है कि प्रारम्भ में यात्रा का संगीत पक्ष ही उल्लेखनीय था। कथोपकथन साधारण और नाटकीय तत्वों में ग्रामीणता अधिक थी। पद्य के संवादों में गीतों का अनावश्यक पुट अखरता था यहाँ तक कि पूरे संवाद भी गीतबद्ध हुआ करते थे। यही जात्रा (यात्रा) बंगाल के नाटकों की पूर्वजा है।

यात्रा का अभिनय ढोल और मृदंग के साथ गायकों के सामूहिक गीत पर चलता है। समस्त गायक 'चौगा' नामक श्वेत वस्त्र पहनकर मंच पर उतरते हैं। यह मंच खुली हुई समतल भूमि पर अथवा किसी मन्दिर के ऊँचे चबूतरे पर निर्मित होता है। पौराणिक नाटक में नान्दीपाठ की भाँति यात्रा में 'गौर-चन्द्रिका' का गायन उसी प्रकार होता है जिस तरह उत्तर भारत के लोक नाट्यों में देवताओं की स्तुति और गुरु की वन्दना। 'गौर-चन्द्रिका' का विषय श्रीगौरांग प्रभु चैतन्य की वन्दना से सम्बन्धित होता है। इस परम्परा से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि चैतन्य ने यात्रा का वास्तव में उद्धार किया था। चैतन्य के पश्चात् यात्रा के ही प्रभाव से गोपालस्वामी कृत 'विदग्धमधुव' एवं प्रेमदास कृत 'चैतन्य चन्द्रोदय कौमुदी' (१०१२) जैसे नाटकों को ख्याति मिली। छोटे-छोटे संक्षिप्त नाटकों में कृष्ण जीवन की झाँकियों एवं विविध प्रसंगों का विस्तार आगे चल कर होता गया।

यात्रा के अभिनेता 'अधिकारी' के नेतृत्व में काम करते हैं। अधिकारी ही उनका निर्देशक और प्रधान गायक होता है। जिस तरह महाराष्ट्र के फडों में सरदार का अस्तित्व है उसी तरह यात्रा में अधिकारी का। यहाँ तक ज्ञात हो सका है, परमानन्द

१ कुंजबिहारीदास, द सटी आफ ओरिसन फोक-लोर [illegible]

नामक निर्देशक १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। यही पहला नाम मिला है। परमानन्द के बाद निर्देशक का क्रम बराबर उपलब्ध है। बहुत समय तक यात्रा में स्त्रियों का अभिनय पुरुषों द्वारा ही किया जाता रहा। जब स्त्रियों का प्रवेश और नई सभ्यता के पात्रों का फिर समाज के शरीर में उतरने लगा तब शहरों में यात्रा प्रदर्शन की शैली विकृत हो गई। परम्परागत वाद्यों के स्थान पर तबला और हार्मोनियम आ गये। कलकत्ते के शौकिया धनिकों ने भी एक यात्रा दल आरम्भ किया जिसे 'शौकीन यात्रा' कहा जाता था। इसी में सब से पहले स्त्रियाँ मंच पर आईं। कृष्ण यात्रा की वैष्णव प्रधान मान्यता इसमें लुप्त हो गई। गीतों में शृंगार का प्रवेश और कथानकों में परिवर्तन हो गया। अनेक छोटे-मोटे दलों ने इसे व्यापारिक माध्यम मानकर विनोद का विषय बनाया। परिणाम यह हुआ कि यात्रा धार्मिक बन्धनों से ऊपर उठकर शहरों का 'व्यवसाय' बन गई। पहले गाँवों के जमींदार, रईस या अधिकारीगण यशोपार्जन की भावना से यात्रा मण्डलियों को निमन्त्रित करते थे। सामाजिक स्थिति के हेर-फेर और आर्थिक कठिनाइयों ने इस व्यवस्था को अधिक ठेस पहुँचाई। शहरों में एक ओर यात्रा की व्यावसायिकता हो गई पर गाँवों में दूसरी ओर अशिक्षित जनता ने अपने पारम्परिक रूप में इस परम्परा को जीवित रखा। बीसवीं शताब्दी के नवोन्मेष में यात्रा की शैली अपनाकर मुकुन्ददास ने समाज की बुराइयों एवं विदेशी शासन के विरुद्ध रचनाएँ लिखीं। गाँवों में उनके गीत बिजली की तरह फैल गये। अतः यात्रा की परम्परा आज के समय में भी गाँवों के मनोरंजन का माध्यम है। प्रतिवर्ष यात्रा मण्डलियाँ जुटती हैं। बंगाल में कतिपय नाटक मण्डलियाँ इस शैली को अपना कर सामान्य जनता तक नाटकों के नये प्रयोग प्रस्तुत करने में संलग्न हैं।

गम्भीरा

गम्भीरा लोक नाट्य का दूसरा रूप है जो बंगाल में प्रचलित है। यह शाक्त महासन्यासियों का मंच है। शिव की लीलाएँ अभिनीत करने के निमित्त सन्यासी मुँह पर चेहरे लगाकर उतरते हैं। रात्रि को प्रायः लीलाएँ की जाती हैं। निर्देशक और अभिनेताओं को अपनी सुविधानुसार पर्दे के पीछे जाने-आने व दर्शकों के बीच बैठे हुए किसी भी व्यक्ति से बातचीत करने की स्वतंत्रता रहती है। यहाँ पर्दा केवल दो बाँसों के सहारे साधारण कपड़े का बना लिया जाता है।

बंगाल में श्री जी० एस० दत्त ने जिन दिनों अपने व्रतचारी आन्दोलन का प्रचार आरम्भ किया उन्हीं दिनों उसी से प्रभावित हो बंगाल के कतिपय प्राचीन नृत्य और नाट्यों की ओर शिक्षितों का ध्यान गया। 'कृत्य' और 'नृत्य' व्रतचारी आन्दोलन के मुख्य अंग थे। क्रमशः बंगाल के गाँवों की पुरानी लोक-कलाएँ सामने आने लगीं। गम्भीरा इसी तरह की भुलाई हुई सामग्री थी। चैत्र संक्रान्ति के अवसर पर शैवधर्मियों जिनमें गम्भीरा की भाँति ही 'नकाब-नृत्य' होते हैं। नकाबों का निर्माण गाँव के बढ़ई और ग्रामीण रंगरेज करते हैं। अभिनेता कमर में लाल वस्त्र तथा ऊपर का शेष खुला रख कर शिव का स्वरूप बनता है। वही संन्यासी या योगी कहा जाता है। गले में रुद्राक्ष की माला और माथे पर जटाओं का जूड़ा पूर्ण शिव का भेष है।

शिव रूप अभिनेता जनता को प्रणाम कर ढाक की आवाज पर नृत्य आरम्भ करता है। गायकों का मंडल उसके पीछे गीत गाता है। नृत्य की गति आरम्भ में मन्द और अन्त में द्रुत हो जाती है। मुद्राओं का प्रदर्शन उसी क्रम से परिवर्तित होता है।

गम्भीरा का ठीक यही ढंग है। इतिहासज्ञ श्री दिनेशचन्द्र सेन का विश्वास है कि आधुनिक नाटकों के अनेक उपादानों से रहित ये ग्रामीण कोटि के नृत्य-नाट्य जन भावों को आन्दोलित करने में अधिक सक्षम हैं।

मुखौटा-नाट्य का एक और रूप भी है जिसे 'बुड़ा-बुड़ी' कहते हैं। यह एक प्रकार का हास्यात्मक अभिनय प्रधान नृत्य होता है। जिसमें बूढ़ा-बूढ़ी के रूप धारण कर दो अभिनेता सम्मिलित नृत्य करते हैं।

फरीदपुर के अवतार नृत्य चरक गम्भीरा उत्सव के अंग हैं जो बंगाली वर्ष के अन्त में अभिनीत किये जाते हैं।

शैवों ने शिव की आराधना में जिन नाट्य-तत्वों को अपनाया वे नृत्य-नाट्य प्रधान होकर भी यात्रा से अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं।

कीर्तनिया

कीर्तन यात्रा की भाँति ही एक दूसरी नाट्य सामग्री है। इसमें भी भक्त गण उद्दाम भावुकतावश हरीलीला करते हैं।

कीर्तनिया नाटक की मूल प्रेरणा इसी कीर्तन से है। जिस समय मिथिला और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु की वाणी कीर्तन द्वारा कृष्ण लीला को उत्कर्ष प्रदान कर रही थी उन्हीं दिनों नेपाल के राजदरबारों की गीत-नाट्य परम्परा के साथ मिथिला की जनता में कीर्तनिया का अभ्युत्थान हुआ। नेपाल के मल्ल राजा नाटकों के प्रेमी थे। उन्होंने न केवल नाटक ही लिखवाये वरन् उनके अभिनय के लिये मंचों का निर्माण भी करवाया। यद्यपि मंच खुले होते थे और अभिनय दिन में किया जाता था तो भी संगीत-काव्य-बद्ध संवादों का प्रमुख पौराणिक कथानक और गद्य का प्रयोग उनमें कम ही होता था। नृत्य ही इन नाटकों का मुख्य आकर्षण रहा है। सन् १७६४ के पश्चात् यह परम्परा मल्लों के पतन के साथ नष्ट हो गई। राजाश्रय के समाप्त होने पर भी जनता में कीर्तनिया के ढंग की नाट्य प्रणाली प्रचलित थी।

कीर्तनिया धर्म प्रधान नाटक है। कृष्ण या शिव चरित्र इन नाटकों में अभिनीत किये जाते हैं। इसका अभिनय रात को होता है। प्रमुख अभिनेता नायक कहलाता है। पहले भारतीय पद्धति का संगीत इसमें प्रचलित रहा करता था। आज भी नारदी संगीत आसाम तक में मिलता है जो लोक-नाट्यों की ही सामग्री है।

कीर्तनिया पूर्ण रूप से मन्दिरी नाटक है। 'परवेश' (प्रवेश) गीत द्वारा यात्रा के भाव की भाँति प्रारम्भ में समस्त पात्रों का परिचय कराया जाता है। डाक्टर उमेश मिश्र ने इन नाटकों को तीन कालों में विभक्त किया है। प्रथम काल १३५ से १७ ई दूसरा १७०० से १९०० ई और तीसरा १९ ० से १९२० ई० तक। प्रथम काल के मुख्य नाटककारों में उमापति सर्वाधिक लोकप्रिय नाटककार हुए। दूसरे में कान्हाराम लोक कवि और नन्दीपति के नाटक तथा तीसरे काल के विश्वनाथ बालाजी बच्चा झा आदि नाटककार उल्लेखनीय हैं।

अंकिया

यही कीर्तनिया १६वीं और १७ वीं शताब्दी के बीच आसाम में 'अंकिया' नाटक के रूप में प्रचलित हुआ। अंकिया में पद्य के स्थान पर गद्य का विकास हुआ। अनो-

विनोद के स्थान पर वैष्णव धर्म के प्रचार का उद्देश्य इसमें अधिक निहित था। अंकिया नाटक केवल एक अंक का नाटक होता है। यही कारण है कि उसे अंकिया कहा जाता है। शंकरदेव और गोपालदेव लोकप्रिय अंकिया नाटककार हो चुके हैं।

नाटकों की प्राचीन परम्परा अब भी लोगों में बची है। यह उल्लेखनीय है कि वैष्णव धर्म के प्रचार में ब्रज के पश्चात् बंगाल मिथिला और निकटवर्ती क्षेत्रों में लोक-कला अधिक सहायक सिद्ध हुई है। विद्यापति और जयदेव के पदों ने लोक संगीत को शक्ति दी। धर्म ने अभिनय और नृत्य का विकास लोगों में स्वभावतः कर दिया। यात्रा और कीर्तनिया बहुत कुछ मिले-जुले ढंग के नाटक होते हैं। सुविधा के लिये हमने इसलिये बंगाल के लोक-नाट्यों में स्थान दिया है।



महाराष्ट्र

महाराष्ट्र के लोक-नाट्य

तमाशा, ललित, गोंधल, बहुरूपिया, दशावतार

महाराष्ट्र में नाटक की परम्परा का आरम्भ कब हुआ यह कहना कठिन है। किन्तु लोक-नाट्यों के अस्तित्व पर इस समस्या का कोई प्रभाव नहीं है। नाटकों के मात्र प्राप्त होने के प्रमाणों के बावजूद भी लोक-नाट्य जनता में अपना प्रभाव जमाये रहे। संत ज्ञानेश्वर के समय मराठी नाटकों के विकास की परम्परा तमाशा गोंधल ललित और स्वांग जैसे लोक-प्रचलित मनोरंजन के साधनों से सम्बद्ध हो जाती है। 'ज्ञानेश्वरी' में (सन् १२९०) नटरंगी कथमुखी, सूत्रधार' आदि के उल्लेख इस बात के द्योतक हैं कि महाराष्ट्र में लोक-रंजन के कतिपय साधन सदा से विद्यमान रहे हैं जिन्हें उत्तम नाटकों की प्रेरणाभूमि मानकर मराठी लेखकों ने संस्कृत नाटक के ढाल से नाट्य रचनाएँ लिखने में सहायक समझा। विश्वनाथ पाण्डुरंग वाकर न स्पष्ट शब्दों में मराठी नाटकों के मूल में ललित तमाशा गोंधल प्रभृति का महत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि उक्त आधार दक्षिणवर्ती आन्ध्र और कर्नाटक के नाटकों के अधिक अनुरूप हैं तथापि महाराष्ट्र के अन्तर्गत उनमें कुछ ऐसे तात्त्विक परिवर्तन हो जाते हैं जिनमें उनकी स्वतंत्र सत्ता ही लक्षित होती है। इसमें सन्देह नहीं कि मराठी के [illegible]-आलोचक कर्नाटक एवं निकटवर्ती प्रान्त के इस प्रभाव को स्वीकार करते हैं किन्तु कालान्तर में जो जातीय रंग सहज विकसित हुआ वह द्रष्टव्य है।

निम्नलिखित पाँच नाट्य प्रकार मराठी रंगमंच के आधारस्रोत हैं —

(अ) तमाशा
(आ) ललित
(इ) गोंधल
(ई) बहुरूपिया
(उ) दशावतार

(अ) तमाशा

तमाशा महाराष्ट्र का शताब्दियों पुराना लोकनाट्य है। आज भी ग्रामों में मेले-ठेले अथवा उत्सवों के अवसर पर तमाशा आकर्षण का प्रधान विषय है। यह लोकरंजन का महत्त्वपूर्ण साधन रहा है।

तमाशा करने वाली मंडली 'फड़' कहलाती है। फड़ का मुखिया जो निर्देशक एवं संचालक दोनों ही होता है महाराष्ट्र में सरदार कहलाता है। सरदार 'नाइक्या' (ढफ अथवा चंग बजाने वाला) ढोलकिया 'सोंगाड्या' (स्वांग करने वाला—विदूषक)

---

१ ज्ञानेश्वरीमध्ये कांई। प्रारंभी सूत्रधार (अ० ९-१०) की ज्ञानेश्वरीची मनी। गुरुतेजु (अ० १८-११२)।

प्राप्त हो सकती है।[1] 'तमाशा' के पहले महाराष्ट्र में लोकनाट्य का स्वरूप क्या था, यह भी प्रश्न सामने है। श्रीपाद रंगनाथ बंडवले के अनुसार यह परम्परा 'गोंधल' नामक धर्मप्रधान नाट्य से विकसित हुई प्रतीत होती है।[2] 'शाहिर' कवियों ने इसे पुष्ट किया है। यदि इसे कन्नड़ नाट्य का विकृत रूप भी स्वीकार किया जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि महाराष्ट्र ने इस पर अपना ऐसा गहरा रंग चढ़ाया है कि इसे एक स्वतंत्र लोकनाट्य ही कहा जा सकता है।

अन्ततः यह स्पष्ट है कि 'तमाशा' की परम्परा १६ वीं शताब्दी के पूर्व से प्रचलित है। मुसलमानों के आगमन के पूर्व महाराष्ट्र में अपनी प्राचीन नाट्य परम्पराएँ रही हैं। इन्हीं परम्पराओं पर आगे चल कर बाह्य प्रभाव लक्षित हुए, किन्तु वे सभी प्रभाव महाराष्ट्र की जातीय परम्पराओं में इस तरह घुल-मिल गये कि उन्हें अलग नहीं कहा जा सकता।

उत्कर्ष

पेशवाओं के काल (१८ वीं शताब्दी) में 'तमाशा' अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। प्रधानतः सवाई माधवराव और बाजीराव (द्वितीय) के समय इसे खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मराठों के राज्य ज्यों-ज्यों दृढ़ होते गये ऐश्वर्य और विलासिता के कारण मनोरंजन के विभिन्न साधनों को प्रश्रय मिलता गया। मराठों की सेनाओं के साथ नायिकाओं के दल जाया करते थे। एक ओर तलवार की तेजी थी और दूसरी ओर ऐहिक शृंगार की सामग्री। लावनी और ख्याल छन्दों में तमाशा खिलता गया। उत्तर भारत में मराठों का ज्यों-ज्यों संपर्क दृढ़ हुआ 'तमाशा' अपने रूढ़ अर्थ में अधिक प्रसिद्ध होता गया। रामजोशी अनंतफंदी होनाजी बालाजी सगनभाऊ प्रभाकर, परशुराम आदि लावनीकार शाहिर कवियों की शृंगारी रचनाओं से तमाशा पुष्ट हुआ और अमीर-गरीब सभी का प्रिय मनोरंजन हो गया। ये सभी कवि १८वीं और १९वीं शताब्दी के मध्य हुए। प्रायः प्रत्येक शाहिर कवि के पीछे स्वतंत्र 'फड़' (दल) हुआ करता था। सभी फड़ अपने-अपने शाहिर की रचनाएँ गाते थे। लावनी छंद की प्रसिद्धि का कारण फड़ों की परम्परा का होना है। ये 'फड़' निमंत्रण पर तमाशों का आयोजन करते और सर्वसाधारण के साथ-साथ सामंतों और श्रीमानों का मनोरंजन करते थे। १९वीं शताब्दी के पूर्व मराठों का खूब उत्कर्ष हुआ। सामाजिक जीवन के शृंगारपरक एवं हृदयस्पर्शी प्रसंग लावनियों के विषय बने। मुहिम पर जाने वाले सैनिकों की स्त्रियों के सूने विरहावस्था में अपने पिता के घर तड़पने और पुनर्मिलन की प्रतीक्षा में अपने हृदय को सम्हाले रखने के चित्र तमाशा में प्रमुख होनेवाली लावनियों में उभरे। सामान्य जीवन की सरल व्यञ्जनाएँ तमाशा के साहित्य में लोक-साहित्य सी मधुरी और सौन्दर्य की ऊष्मा से भासित हुईं।

बताया जाता है कि लावनी की उत्पत्ति केवल तमाशा के लिये हुई। श्री सरवटे ने लिखा है— 'मराठी का शाहीर शब्द मूलतः अरबी के 'शायर' जिसका अर्थ कवि है, को मराठी पहनावा पहना कर उपलब्ध किया गया है। उसी प्रकार शाहीर की

१ महाराष्ट्र नाट्यकला व नाट्य वाङ्मय, पृ० १६।
२ वही।

की 'लावनी' मराठी कल्पनाओं संस्कृत की उपमाओं एवं मधुरवृत्त के संयोग से सुचित हुई है।[1] लोक-कवियों की यह परम्परा ऐहिक शृंगार में डूबी हुई थी। लावनी के साथ 'पवाड़ा' छंद का प्रचार हुआ। दोनों छंदों की विषय-वस्तु ठीक एक-दूसरे के विपरीत है तथापि तमाशा में लावनी ही अधिक स्थान पाती रही। प्रभाकर की एक लावनी में नारी का शृंगारपरक रूप देखिये—'कांव नवल वैनी त्रिभुवन त्रिवेनी चरचेची भवचरसी। कुचद्वयाचा भारी झोंक त्यामध्ये ठेवी कोंक नोक झोंक भर पुरली। कुंकुमार नार, फारपुले पमार, लाल दुशाला पांघरसी। पायजी कैठक कुहरी और मखमीचान नहू ? केवड्याची वहम शहरी मु ग चमत्कारे गहरी ऐनी चन्द्र सूर्य महरी धारी लाल कृष्ण लाहुरी। पयमुन वरी निरी तमु तमुवर विरी वरी सुधे परी मटकी। पयी पमीन करि कोकिल किलकिल माकसवी विद तुटकी।'

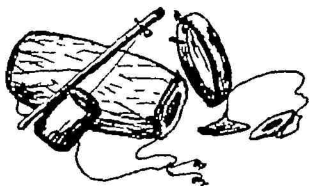
ऐसी लावनियाँ अपनी पूरी सचाई के साथ उन भावों को लिये हुए हैं जो मानव की मूल प्रवृत्तियों को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखते हैं। 'शाहिरी' साहित्य म ऐसी अनेक लावनियाँ तमाशा की बेजोड़ सम्पत्ति हैं। सामान्य जीवन के विषय लोगों के मनोभावों को गहराई से छूते हुए इनमें लिखे हैं। लोक-जीवन के परम्परागत विश्वास प्रणय चेष्टाएँ नारी के शृंगारपरक चित्र नायकों की सहृदयता मस्ती और तत्कालीन समाज की झांकी तमाशा नाट्य की प्रचलित रचनाओं में उपलब्ध हैं। आगे चल कर महाराष्ट्र के घर-घर में मतवाले शाहिरों की लावनाइयाँ गूंजने लगीं और नायक गुणों के माध्यम से तमाशाकारों ने उनमें ऐसा प्रभाव पैदा कर दिया जो आज तक सजीव भासित होता है।

इन दिनों तमाशा न केवल महाराष्ट्र के गांवों की वस्तु है, बल्कि नगरों के थियटरों तक में आधुनिक मंच की सुविधाओं को पा कर सर्वसाधारण का हृदयहारी मनोरंजन बन गया है। बाजीराव पेशवा के कारण उत्तर-भारत में भी महाराष्ट्र के लावनीकारों के स्वर गूंजे। प्रभाकर और पट्ठे बापूराव ने तो हिन्दी में भी कुछ लावनियाँ रचीं। हिन्दी में प्रचलित लावनी छंद के पृष्ठ में महाराष्ट्र के इन शाहिरों का बड़ा हाथ है। १६वीं शताब्दी के आरम्भ में तमाशा की लावनियाँ अति शृंगारिक हो चलीं। उनमें अश्लीलता का पुट आ गया। परिणामत मध्य वर्गीय समाज का एक बड़ा भाग उसके प्रति अपनी दिलचस्पी खो बैठा। उसे निम्न श्रेणी का मनोरंजन समझा जाने लगा। सद्गृहस्थ उसे अपमानजनक समझने लगे।[2] यद्यपि अंग्रेजों के काल में तिलक एवं महात्मा फुले जैसे व्यक्तियों ने लोक-नाट्य क इस प्रकार को सामाजिक एवं राजनतिक-प्रचार का साधन बनाया था। ४२ के आन्दोलन में भी इसका उपयोग हुआ। राष्ट्रसेवादल तथा साम्यवादियों के सांस्कृतिक

---

१ मराठी साहित्य समालोचना, पृ० २०।

२ नाम्मी नवलदार विलची पूर्व हुए स्वामिनी प्रिया अवतरित हुई। बालों का चोमामसली जूड़ा जिसमें कोकचोंच लगा हुआ है पूर्णतः झुका जा रहा है। गुले अनार की, सुकुमार नार लाल दुशाला धारण किये है राखड़ी गुंदी तथा चन्द्र सूर्य की बहार उस पर शोभा दे रहे थे। अपनी साड़ी को ऊँचा उठाये जिसमें स्थान-स्थान पर चंद्र लगे हैं सवार्गत परी की कांति यह लगी हुई है। ऐसी सुन्दर होकर भी यह कोकिला की तरह कूजन करती है। यह मानों आकाश से टूटी हुई बिजली है।



तमाशा के वाद्य'





'तमाशा' पूर्ण होने पर आमदनी का बँटवारा

[१०६५]

की 'लावनी' मराठी कल्पनाओं संस्कृत की उपमाओं एवं मधुरवृत्त के संयोग से पुष्पित हुई है।[1] लोक-कवियों की यह परम्परा ऐहिक शृंगार में डूबी हुई थी। लावनी के साथ 'पवाड़ा' छंद का प्रचार हुआ। दोनों छंदों की विषय-वस्तु ठीक एक-दूसरे के विपरीत है तथापि तमाशा में लावनी ही अधिक स्थान पाती रही। प्रभाकर की एक लावनी में नारी का शृंगारपरक रूप देखिये—'नाक सरळ वेणी त्रिगुण त्रिवेणी करवेणी लवचली। मुखचन्द्राचा माथी झोंक त्यामध्ये ठेवी कोंक मोक झोंक भर पुरली। सुकुमार नार, फारसुमे अतार, लाल दुशाला पांघरली। राखडी केवड्याची गोंडेदार वर गे केवड्याची मराठी मुंद चमकारे महती देती चन्द्र सूर्य महती खाली भाल केवल नाहटी। अवगुन परी गिरी तनु तनुकर गिरी करी जुरी परी नरली। पदी प्रवीन करि कोकिल किलबिल पाकसची विश दुटली।'[2]

ऐसी लावनियाँ अपनी पूरी सचाई के साथ उन भावों को लिये हुए हैं जो मानव की मूल प्रवृत्तियों को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखते हैं। 'शाहिरी' साहित्य में ऐसी अनेक लावनियाँ तमाशा की बेजोड़ सम्पत्ति हैं। सामान्य जीवन के विपन्न लोगों के मनोभावों को गहराई से छूते हुए इनमें लिखे हैं। लोक-जीवन के परम्परागत विश्वास भजन चेष्टाएँ नारी के शृंगारपरक चित्र नायकों की सहृदयता मस्ती और तत्कालीन समाज की सूझी तमाशा नाट्य की प्रचलित रचनाओं में उपलब्ध हैं। आगे चल कर महाराष्ट्र के घर-घर में मतवाले शाहिरों की लावनाइयाँ गूँजने लगीं और नायक गुणों के माध्यम से तमाशाकारों ने उनमें ऐसा प्रभाव पैदा कर दिया जो आज तक नवीन आपित होता है।

इन दिनों तमाशा न केवल महाराष्ट्र के गाँवों की वस्तु है, बल्कि नगरों के थियटरों तक में आधुनिक मंच की सुविधाओं को पा कर सर्वसाधारण का हृदयहारी मनोरंजन बन गया है। बाजीराव पेशवा के कारण उत्तर-भारत में भी महाराष्ट्र के लावनीकारों के स्वर गूँजे। प्रभाकर और पट्ठे बापूराव ने तो हिन्दी में भी कुछ लावनियाँ रचीं। हिन्दी में प्रचलित लावनी छंद के पृष्ठ में महाराष्ट्र के इन शाहिरों का बड़ा हाथ है। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में तमाशा की लावनियाँ अति शृंगारिक हो चलीं। उनमें अश्लीलता का पुट आ गया। परिणामतः मध्यवर्गीय समाज का एक बड़ा भाग उसके प्रति अपनी दिलचस्पी खो बैठा। उसे निम्न-श्रेणी का मनोरंजन समझा जाने लगा। सद्गृहस्थ उसे अपमानजनक समझने लगे।[2] यद्यपि अंग्रेजों के काल में तिलक एवं महात्मा फुले जैसे व्यक्तियों ने लोक-नाट्य को इस प्रकार को सामाजिक एवं राजनैतिक प्रचार का साधन बनाया था। ४२ के आन्दोलन में भी उसका उपयोग हुआ। राष्ट्रसेवादल तथा साम्यवादियों ने सांस्कृतिक

---

१ मराठी साहित्य समालोचना, पृ० २०।

२ नाक सरळ त्रिवेणी गूँथे हुए स्वामिनी त्रिया अवतरित हुई। बालों का शोभाशाली जूड़ा जिसमें कोंकचोंक लगा हुआ है, दुर्गत झुका जा रहा है। गूँथे अनार सी सुकुमार नार लाल दुशाला धारण किये है राखड़ी, मुंदरी तथा चन्द्र सूर्य की बहार उस पर शोभा दे रहे थे। अपनी साड़ी को ऊँचा उठाये जिसमें स्थान-स्थान पर फूल लगे हैं यथार्थतः परी की भाँति वह सजी हुई है। ऐसी सुन्दर होकर भी वह कोकिला की तरह कूजन करती है। वह कामों सम्भ्रम से छूटी हुई दिखती है।

मंडलों ने तमाशों के द्वारा जन-जीवन के विचारों में परिवर्तन करने का भरसक प्रयत्न किया। तमाशा पर अश्लीलता का आरोप अब धीरे-धीरे कम होने लगा है। कुछ काल पहले 'महाराष्ट्र तमाशा परिषद' की स्थापना हुई है। उसमें तमाशा को परिष्कृत करने के लिये विचार किया गया। निश्चय ही मराठी का यह लोक-नाट्य पुन: अपना महत्व पा रहा है।

(आ) ललित

ललित मध्ययुगीन धार्मिक मंच है। ललित की उत्पत्ति के विषय में श्री रंगनाथ कंडबले लिखते हैं कि १६वीं शताब्दी के प्रारंभ में बम्बई निवासी दादारांव नामक मराठे ने ललित का अभिनय करना प्रारम्भ किया। दादारांव ने पूना के प्रख्यात नायकी अप्पाशा बड़ौदा के बाबोजी बुवा और बम्बई के पाटणी बुवा को अपने-अपने ललितदल संगठित करने की प्रेरणा दी। इतना ही नहीं तीनों व्यक्ति दादारांव के पास बहुत दिनों रहे और उन्होंने ललित का यथोचित अभिनय सीखा है। इससे ज्ञात होता है कि ललित बहुत पूर्व की वस्तु है। संत तुकाराम के एक अभंग में ललित का उल्लेख इस प्रकार आया है—

'अस्तित लासी कामा।
हेंचि ललित पंढरिरामा॥"

शास्त्रीय कोष (मराठी) में ललित का अर्थ—'नवरात्रादि सम्बन्धी कीर्तन विशिष्ट के उत्साह त्याचे अंतिम दिवशी रात्रीं उत्साह देवता सिंहासनाकड जाणी मर्व कानून वासुदेव दंडीगाण। ईश्वर भक्तांची सोंगे आणून त्यांतीलांनी स्व० सम्प्रदा यानुरूप देवापासीं प्रसाद मागावा आणि तो सर्व सभासदास वाटावा असा जो हरि दासजन कीर्तन-विशिष्ट समारंभ करितात तें'—दिया हुआ है। तात्पर्य यह है कि ललित नवरात्रि सम्बन्धी विशिष्ट कीर्तन है जिसमें अंतिम दिन उत्साह देवता सिंहासन विराजे यह कल्पना कर, ईश्वर भक्तों आदि के स्वांग आदि लिये जाते हैं तथा देवता से प्रसाद प्राप्त करने का अभिनय कर उसी प्रसाद को दर्शकों में वितरित किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ललित में कीर्तन की मात्रा क्रमश: घटती गई और कालान्तर में स्वांग सम्बन्धी विशेषताएँ ही नाटकीय रूप में प्रकाशित हो गई। इस प्रकार कीर्तन का सम्बन्ध ललित से छूट गया और लोग ललिताभिनय को ही मनो-रंजन का स्वतन्त्र विषय समझने लगे।

मराठी के विद्वानों का स्पष्ट मत है कि ललित ने पौराणिक एवं ऐतिहासिक

---

१ प्रयोग रंगनाथ कंडबले ने एक सोलापुर निवासी नाना नामक 'नाच्या' (मुख्य पात्र) की एक कहानी अपनी पुस्तक में उद्धृत की है। नाना बड़े बाप का पुत्र था। तमाशाकारों की सोहबत में पड़कर वह नर्तक हो गया। एक बार उसके पिता ने तमाशा देखा। नाना (नाच्या) की कला पर मोहित होकर उन्होंने एक लाख रुपये भेंट की। वह यह जान भी न सके कि अपने पुत्र को ही उन्होंने पुरस्कार दिया है। घर पर आकर देखा तो वहीं प्राण छोड़कर उनका पुत्र सो रहा है। वास्तविक स्थिति ज्ञात होने पर उन्होंने विषपान कर लिया।

२ देखिये महाराष्ट्र नाट्य-कला व नाट्य वाङ्मय, पृष्ठ ४-५।

नाटकों को जन्म दिया क्योंकि अपने उत्तर मध्यकालीन युग में ललित ही ऐसा प्रयोग था जिसमें पौराणिक एवं लोक प्रचलित अथवा ऐतिहासिक धर्मोन्मुखी कथाएँ नाटक का आधार बन सकीं। तंजौर के नाटकों का प्रभाव ललित पर बताया जाता है, क्योंकि नवरात्रि के पश्चात् जो लोक-नाट्य तंजौर में किये जाते हैं वे प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। नांदी और गणपती का प्रवेश अनिवार्य है। हास्यभावों के अतिरिक्त संवादों का माध्यम कथानक को आगे बढ़ाता है। ललित में पद्य का बाहुल्य होता है, पर गद्य का प्रयोग भी कम नहीं होता। बालकृष्ण वामन पाठक की 'ललित संग्रह' नामक एक पुस्तक उपलब्ध है। उसमें ललित स्वांगों के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। श्री विनयमोहन शर्मा ने उन उद्धरणों को पढ़ कर इस बात पर आश्चर्य प्रगट किया है कि महाराष्ट्र में हिन्दी नाटकों के विकास के पूर्व ही हिन्दी गद्य का गहरा प्रभाव इन ललितों पर पड़ चुका था। उद्धरणों से सिद्ध होता है कि दो-तीन शताब्दी पूर्व दक्खिनी हिन्दी शाखा ने उत्तर की ऐसी पर्याप्त नाटक सम्बन्धी विशेषताएँ ग्रहण कर ली थीं। 'महाराष्ट्र नाट्यकला व नाट्य वाङ्मय' ग्रन्थ से ललित के कुछ अंश प्रस्तुत हैं —

छड़ीदार का प्रवेश

"निर्गुन निराकार जिसका सब सृष्टीकू आधार, जिनके नीति से वेद बने चार, उस साहेब कू मुजरा करके नजर रख्खो मेहरबान साधुसंत सुजान मेरे अबाब पर रख्खो ध्यान, कहे बंदा रामजी पठान सब साधु सज्जन कू मुजरा करके ऐसे महाराज निर्गुन-निराकार, उन्हे लिये दसअवतार, किया दुष्टन का संहार, जो दीनोद्धार महाराज है मेहरबान सलाम"

पाटील—आप कौन है ?

छड़ीदार—हम छड़ीदार, पोशाख पेहना जरीकाठार, धोट घोलासे बांधी कमर, गले में डाला आब मोतन का हार, म्यानम्यान की बांधी तलवार, मुठमा ये ही बरछी कमर में हातमें खड़ा छड़ी बड़ी चमकदार, खड़ा रहूँ साहेब के द्वार भगवान के नाम की पुकारें ललकार, ये ही हम छड़ीदार कहलाते हैं।

पाटील—तुमने कहाँ नौकरी बजाई ?

छड़ीदार—दस अवतार में।

पाटील—कौन से दस अवतार में ?

छड़ीदार—मच्छ, कच्छ, वराह इत्यादि महाराज के दस अवतार में नौकरी बजाई।

पाटील—मच्छ अवतार में कैसी नौकरी बजाई ?

छड़ीदार—पैदा हुआ सागर से शंखासुर नाम कहलाते उसे उसने धूम मचाई देवताओं से वेद छीन लिए ब्रह्मा से सागर में छुप रहो सागर में छुपाये वेद चार, तब सब सुर ब्रह्मा मिल किया विचार, गये क्षीरसागर साहेब के द्वार, बताया हाल शंखासुर का तब भगवान ने लिया मच्छ अवतार, शंखासुर मार वेद छीन लिये चार स्वर्ग की स्थापना करके मच्छ अवतार खलास किया। वहीं की नौकरी छोड़ चले आये।

(इसके पश्चात् दस अवतार का वर्णन और छड़ीदार, चोबदार आदि के स्वांग) छड़ीदार के पश्चात् नामेदार आकर इस प्रकार अर्ज करता है —

अर्ज सुनिये महाराज आप गरीब नवाज मालक सबके सिरताज लाज रखो दास की। गाया ८४ का फेर देख आया जम से मेर, ऊबर नहीं अब ठेर, नजर रखो मेहर की। अवरा भुवन सात ताल स्वर्ग मृत्यु और पाताल देखे बड़े-बड़े भूपाल सब पर सद्रूप काम की। चार लोक चार धाम ए दर्शन दास नाम कोई पाया नहीं राम औरत गुणियो आप की। मायन मुकुट ओंकार हम तो पुण्य का विस्तार, भरा बीच का दरबार बिचार शोभा नाद की। सुख हो बसे सरकार दे दिया गले में हार, सिर पर पटका जरीजरतार पैरन कुसुंबीमाल दी कमर को खास माला दिया म्यान का सब दियो चिनगार थमता तोड़ा कटिसार, लड़े जग के मालदार, नौकरी दी पाव की यादव करते हैं तमाम मजलिस संतों की तमाम मेहर रखो मुखोधाम धरम सुनिया दास की।

(इस तरह 'ललित' नाट्य का विस्तार होता है। विदूषक बीच-बीच में आकर हास्य की सृष्टि करता है। पाटील और अन्य पात्रों के बीच तत्कालिक संवाद होते हैं।) हरिदास इस प्रकार अपना स्वांग करता है—

'भजमन नारायण नारायण नारायण बच मन नारायण। श्लोक।
अष्टादश पुराणानि कवीनां द्वयम्। परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्॥
हा हा! महाराज क्या कामाच्या तायीं कसी अनमय प्राण – स्वयं विष्णुने गोकुलात अवतार धारण केला – 'तो हा नंदाचिया घरी उंबरा चढता टेका घरी' इत्यादि'।

(इ) गोंधळ

गोंधळ की प्रथा धर्म मूलक है। नामदेव के पूर्व से ही यह प्रथा चली आ रही है। क्योंकि नामदेव द्वारा रचित एक स्वतंत्र अभंग 'गोंधळ' के नाम से प्राप्त है। गोंधळ प्रथा महाराष्ट्र में आनुष्ठानिक महत्व रखती है। इस अनुष्ठान को यथाविधि सम्पन्न करनेवाले लोगों की जाति ही गोंधळी नाम से विख्यात है। प्रारंभ में कहा गया है कि तमाशा के अन्तर्गत 'पवाड़े' भी कहे जाते हैं। यही पवाड़े गोंधळ के अन्तर्गत देवी-देवताओं की स्तुति एवं यशोवर्णन के रूप में प्रचलित रहे हैं। गोंधळी पहले पाँच देवी-देवताओं की स्तुति करता है तत्पश्चात् किसी कथा-प्रसंग को आरम्भ कर किसी चरित्र का बखान करता है।

शब्दार्थ की दृष्टि से गोंधळ का तात्पर्य गड़बड़ी अथवा अव्यवस्था से है। अम्बा गोंधळ की विशिष्ट देवी है। गोंधळी गीत गाते समय अम्बा के समक्ष नृत्य करता है। इस आयोजना के साथ नकल और स्वांग भी जोड़े जाते हैं। कदाचित् इसीलिये नाट्य के मिले-जुले रूप को देख कर यह धर्म प्रधान आनुष्ठानिक मनोरंजन गोंधळ कहा जाने लगा हो।

विवाहादि अवसरों पर गोंधळ की व्यवस्था की जाती है। मंडप के नीचे 'बर्न' नामक चौकी का वस्त्र बिछाकर, पानपत्तों और कलश सहित अम्बा की स्थापना करने के पश्चात् गोंधळी गोंधळ प्रारम्भ करता है। पवाड़े आदि वाद्य वाद्यों के साथ पूरे उत्साहपूर्वक गाये जाते हैं। इस प्रकार संगीत एवं धर्म के सहारे नाट्य तत्वों की अभिव्यंजना होती है।

१—पृ० १-८।

गोंधळ के स्वांग मनोरंजक होते हैं। पाटिल बुवा और गोंधळी की आरम्भिक बातचीत के पश्चात् इस प्रकार गोंधळ का आरंभ होता है—

सुदिन सुवेळ तुला मांडिला गोंधळ हो।
पंचप्राण दिवट्या दीव्ही नेत्राचे ज़िलाल हो ॥ धृ ॥

घटस्थापना कैली तुळजापुर महाद्वारी हो। आकाशी मंडप दिसला ते नेमी ठाला-बरी हो। बैसली देवता पुढे बंधवाचे धावे हो। उदोकार पर्वती गमा फुल्लीचें पुष्प हो ॥

अहो गोंधळ कुठें-कुठें घडले होते? तुळजापुरी कोल्हापुरी वर कथा कोणची लावू यजमान? काल्या आकृपाची? का माम्न पासोड्याची? का बापरावणीची?

पाटील—बापरावणीची

गोंधळी—ठीक आहे नमो भगवती नमो भोळाया नमो माझ्याकृरिकामु नारायणा हो। हा हा हा कथा एका गावा ममुक कमाव्या यांवचा राजा राजा जी जी राजा विसवाच्या मोठी सेना जीजी त्यारावाचे काय बा गाव गाव जी जी ते कोण्या बेटयाला ठावें ठावें जीजी एक सौदागर राणी राणी जी जी तिचे नाव बयाराणी राणी जीजी बयाराणी में शिणगार केला जी जी बैसली वरी अंगिवारी पाटोळाची पंमी मदनाची कांचोळी जी जी पाची विचच्याका मुभत्कार करवी आपला पति पौवाळितेरच जी मोरपाचच्या मोरचा ठामकाका बेमुरीच्या वंशाला ठाकला आ?[1]

इस प्रकार के प्रसंग प्राय गोंधळ आरम्भ करने के पहले प्रस्तुत किये जाते हैं। पुजारी की नकल करते समय कभी-कभी हास्य की सृष्टि होने की पूर्ण सम्भावना होती है। यथा—"अब श्री भक्तों साहेब वार्षिक समारंभस्य इच्छित एवश्च भवतारस्य अद्य शके १०२ मानपट साहेब नाम संवत्सरे—आदि। कभी-कभी तत्कालीन व्यक्तियों के प्रति सामाजिक धारणाओं की अभिव्यक्ति होती है। कथा की सुसबद्धता कलित जैसे लोक-नाट्य से सम्भव नहीं। यहाँ की घटना और वहाँ की घटना यहाँ प्रस्तुत करना कठिन नहीं है।

(ई) बहुरूपिया

मुगलों के दरबार में बहुरूपिया का बहुत स्वागत होता था। बहुरूपिया जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है वह व्यक्ति होता है जो भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सके। स्वांग और बहुरूपिया में इतना ही अंतर है कि स्वांग में एक से अधिक व्यक्ति होते हैं जब कि बहुरूपिया स्वयं रूप से भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। मध्य-काल में बहुरूपिया एक धंधा हो गया था। रूप बनाने की प्रथा भारतीय संस्कृति में अन्य नाट्यों की भाँति नवीन वस्तु नहीं है। बरकतउल्ला द्वारा १७ वीं शताब्दी में लिखित 'प्रेम-प्रकाश' में रूप भरने का उल्लेख आया है। वैदिक काल में भी यह प्रथा विद्यमान थी। कठोपनिषद् के 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' से यह प्रमाणित होता है। यह प्रथा न केवल महाराष्ट्र का विषय है बल्कि उत्तर-भारत में भी उदर-पूर्ति के हेतु रूप भरनेवाले लोग गाँवों या नगरों में दीख पड़ते हैं। चूँकि मुगलों की देखा-देखी मराठों के दरबारों में भी इस कला को यथोचित प्रोत्साहन मिला है अतः मराठी नाटकों के पायव में इसका प्रभाव भी स्वीकार करना होगा। बहुरूपिया के संबंध में अनेक लोक कथाएँ प्रचलित हैं। अकबर के दरबार में कई बार बहुरूपियों ने कौशल दिखाए। पेशवाओं ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन प्रदान किया। वस्तुतः मराठी नाटक के विकास के पूर्व इसका भी अपना योग अवश्य है।

---

1 वही, पृ० ६-१०।

दक्षिण भारत

यक्षगान, विथिनाटकम् और तोलबोम्मुलु

यक्षगान दक्षिण भारतीय लोक नाट्य का वह प्रकार है जो तामिल तेलगु कन्नड़ भाषा-भाषी क्षेत्र की ग्रामीण जनता में प्रचलित है। तेलगू में इसे 'विधि' या 'विधि भागवतम्' भी कहते हैं परन्तु दोनों में अवान्तर भेद अवश्य है। यक्षगान नाटक की परम्परा आन्ध्र कर्नाटक और तामिल संस्कृति की वाहक है। इसकी प्राचीनता निर्विवाद निर्विवाद है तो भी निश्चित रूप से इसकी उत्पत्ति के विषय में मतैक्य नहीं है। यक्षगान नाटक के लिये 'प्राकृत नाटक' शब्द का दूसरा प्रयोग उपलब्ध है। प्रतीत होता है कि यह अवश्य ही ऐसा नाटक रहा है जिसमें संस्कृत की रूढ़ परम्परा का निर्वाह नहीं होता था और जो लोगों के अधिक निकट था। वेटूरि प्रभाकर शास्त्री ने यक्षगान की उत्पत्ति 'कुरवंजु' नामक नृत्य से मानी है। प्राचीन काल में द्राविड़ी नाटकों को भी 'कुरवंजु' कहा जाता था। कुरवंजु 'कुरव' और 'वंज' से मिलकर बना है। 'कुरव' का तात्पर्य जाति विशेष और 'वंज' का नृत्य से है। अर्थात् कुरव जाति का नृत्य। एक दूसरे विद्वान श्री नेलदूरी वेंकट रमनय्या 'कुरवंजी' को तामिल शब्द बताते हुए कहते हैं 'कुरवंजी' एक जाति की स्त्री है। तमिल में इसे 'एरुक' कहते हैं। प्राचीन काल में तामिल यक्षगानों में कुरवंजी स्त्री पात्र का प्रवेश होता था। कुरवंजी पात्र का जिस यक्षगान में प्रवेश किया जाता वह कुरवंजी कहलाता है। केवल कुरवंजियों से यक्षगानों की उत्पत्ति नहीं हुई। यक्षगानों के विकास पर प्रकाश डालते हुए वेटूरि शास्त्री का कथन यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है। लिखा है —

"आन्ध्र देश के श्रीशैल हंसकील नगर (विजयवाड़ा) आदि पैर क्षेत्रों में सुविख्यात सोमादि देवादि पर्वतों पर पर्वोत्सव के समय नागरिक इकट्ठा होते थे। उनके विनोदार्थ आदिवासी नृत्य विशेष का प्रबंध करके धनोपार्जन करते थे। 'कोरवी' जाति से किया गया नृत्य 'कोरवंजु' कहलाता था। 'कोरवंजु' नृत्य विशेष से क्रमशः जाति विशेष में बदलता रहा। ये नृत्य विशेष रूप में ही न रहकर प्रबन्धों के रूप में परिवर्तित हुए और कालानुगुण पर्वत प्रदेशों की महत्वपूर्ण कथाओं से भिन्न-भिन्न लीला कथाओं में सम्मिलित होकर विशिष्ट वेष-नाट्य बन गये। ये वेष-नाट्य पहले नृत्य विशेषों पर निर्भर थे। धीरे-धीरे इनका प्रचार नगरों में भी होता रहा है जिससे नागरिकों की भी एक विशिष्ट रुचि इनके प्रति होती गई। पर नृत्य दृश्यों को पद्य का कथाभाग बोलते थे। नृत्य नृत्याभिनय के साथ ही साथ गेयों में वचन का अल्परूप भी जोड़ दिया गया। राजा सभाओं में देवोत्सव कातर (यात्रा) के समय यक्ष गंधर्वादि वेष धारण कर वेश्याओं द्वारा प्रदर्शित कराते तथा नृत्य धर्म से गेय धर्म की अधिकता होने से यक्षगान कहलाते थे"।[1]

---

१ देखिये वेटूरि लिखित, 'सुग्रीव विजय' की भूमिका तथा कर्ण राजशेष गिरिराव का लेख—'आन्ध्र देश के यक्षगान' (सम्मेलन पत्रिका, पौष, २०१०)।





'यक्षगान' का प्रारम्भ [पृ० ७२]





'कथाकली' का नूतन रूप



'कथाकली' का एक पात्र रूप-सज्जा करते हुए।

कन्नुवलियों के बलों से भी इनकी उत्पत्ति का अनुमान किया जाता है, क्योंकि प्रारम्भ में इनमें संवादों का अभाव था। नृत्य और गान के साथ इनका सामंजस्य होते ही ये 'यक्षगान' की संज्ञा से अभिहित किए गये।

दक्षिण भारत में कथाकली नृत्य की दो भिन्न शैलियों में यक्षगान का भी उल्लेख किया जाता है। एक कथपुडी और दूसरी यक्षगान। दोनों शैलियों का प्रदर्शन करने वाली मंडलियाँ गाँव-गाँव घूमती हैं। चूँकि इनके नृत्य कलात्मक और वेषभूषा कथाकली की भाँति भड़कीली होती है इसलिये इन्हें लोक नाट्य की उस श्रेणी में स्थान प्राप्त है जो पौराणिक कथानकों के आधार पर संगीत और नृत्य की सहायता से प्रभाव उत्पन्न करने में क्षम है।

इस विषय में विद्वानों ने अपने भिन्न-भिन्न मतों से वास्तविकता को बौद्धिक तर्कों का बाना पहना दिया। साधारणतया वेटूरि शास्त्री का मत स्वीकार करना उचित जान पड़ता है।

यक्षगान की प्राचीनता

यक्षगान नृत्य नाट्य है जिसमें गीतबद्ध संवादों का प्रयोग होता है। लम्बे लम्बे बोल पात्रों को सहज ही कंठस्थ रहते हैं। इनमें वर्णन का प्राधान्य होता है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में ये नाटक न केवल मनोरंजन के साधन थे अपितु प्रचार में इनका व्यापक उपयोग हुआ है। ११वीं एवं १२वीं शताब्दी के जैन ग्रन्थों में यक्षगान नाटक को देसी गीत (लोक गीत या ग्राम गीत) कहा गया है। काक तीय युग में इसे धर्म के साथ पौराणिक चरित्रों का प्रदर्शन करने का माध्यम बनाया गया। साधारण लोग तो इसमें भाग लेते ही थे नगर की वेश्याएँ इसमें होती थीं। काकतीय प्रतापरुद्र की वेश्या मायलदेवी और श्रीमेश्वर पुराण की एक वेश्या पात्र 'भिल्लिनि वेष' धारण कर शिवार्चन करती थी।

चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण भारतीय राजनीति में काफी परिवर्तन हुए। देश में एकता का अभाव और सामंतवाद का प्रबल होना कला के लिये क्षति का कारण हुआ। परन्तु जनता के मनोरंजन ज्यों के त्यों जारी रहे। जन जीवन के मध्य समाज में यक्षगानों का प्रचार क्रमशः बढ़ने लगा था। श्रीनाथ कवि ने (१४वीं-१५वीं शताब्दी) यक्षगानों की जो प्रशंसा की है, उससे यह विदित होता है कि राजाओं ने इन्हें प्रोत्साहन प्रदान किया। १६वीं शताब्दी के कवियों ने राजाओं से प्रोत्साहन पाकर अनेक यक्षगानों की रचना की। राजा नृसिंह प्रभुत्व (१६वीं शताब्दी) ने अप्पमाया कवि को 'अमरकवि' और 'माधव चरित्र' नामक यक्षगानों पर प्रमुख बना दिया था।

स्त्रियाँ पुरुष वेष धारण कर यक्षगानों में भाग लेती थीं। रिपली कुम्मा नामक स्त्री का उल्लेख प्राप्त हुआ है जो 'प्रभावती प्रद्युम्न' और 'मंदारभार' नाटकों में अभिनय करती थी। 'रंग अम्मा' नामक स्त्री का भी उल्लेख मिलता है जो 'मन्नारुदास विलास नाटकम्' की लेखिका बताई जाती है। तंजोर राजाओं को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने यक्षगानों में संस्कृत नाट्य शैली का प्रवेश कराया। रंग अम्मा तंजोर के ही राजकुमार विजय राघव की स्त्री थी। और प्रमुख मंडल है उसने इस परम्परा का काफी भाग बढ़ाया था। उनके शासन काल में मधुरवाणी और रामभद्राम्बा जैसी कवयित्रियों को इसी माध्यम से आश्रय प्रदान किया गया था।

यक्षगानों की यह परम्परा ठेठ १७वीं शताब्दी के अन्त तक साहित्य में अनुप्राणित रही। १७वीं शताब्दी के पश्चात् लगभग १०० नाटक ऐसे लिखे गये जिन पर यक्षगान का पूरा प्रभाव है।

यक्षगान नाटक की भाँति बम्बई और हैदराबाद के निकटवर्ती ग्रामों में कुछ लोक नाट्य 'दोड्ड मट्ट' अर्थात् जनता के नाटक या 'बयालाटा' (खुले रंगमंचीय नाटक) तथा 'सण्णाट' (उच्च मंचीय नाटक) के नाम से प्रचलित हैं किन्तु उन पर आधुनिकता का पर्याप्त प्रभाव है। यह बात उल्लेखनीय है कि वे लिपिबद्ध नहीं हैं।

इन दोनों नाट्य प्रकारों का प्रचार कर्नाटक में भी है। वस्तुतः वही उनकी मूल भूमि है। नृत्य और संगीत इनमें प्रधान रूप से अभिनय के सहायक अंग हैं। हिन्दुत्व या भागवत द्वारा महाभारत और रामायण की कथाओं अथवा वैदिक गाथाओं का आधार प्रायः इन नाटकों में लिया जाता है। कन्नड़ का प्रारंभिक साहित्य पद्यबद्ध है। अतः लोकजीवन में नाटकों के कथानकों पर पद्य की छाप होना स्वाभाविक था। षट्पदी में ऐसी कितनी ही सामग्री उपलब्ध है जो रंगमंच के लिये उपयोगी कही जा सकती है। स्थानीय वीरों की कथाओं पर आधारित ये नाटक कदाचित् पौराणिक अथवा संस्कृत ग्रन्थों की गाथाओं की अपेक्षा अधिक मौलिक रहे हैं।

यक्षगान नाटकों की कथावस्तु यों तो रामायण महाभारत और भागवत की पौराणिक एवं लोकप्रिय कथाओं से ली जाती है। किन्तु वह लोक भावों से अनुरंजित होकर अभिनेताओं के कौशल और मुखर संवादों का स्पर्श पाकर अधिकतर लोकपरक हो जाती है। समय समय पर सामाजिक मान्यताएँ इनमें प्रश्रय पाकर परम्परा का स्वरूप धारण करती गईं। अनेक वर्षों के पश्चात् लिंगायत संत अल्लामा प्रभु का जीवन चरित्र मंच का विषय बनाया गया—जो वस्तुतः परम्परागत शैली में प्रयोग कहा जा सकता है।

कथाकली और यक्षगान

कथाकली केरल का नृत्य नाट्य है। कला की दृष्टि से उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति लोकजीवन की अनेक धाराओं में समुचित व्यञ्जना है। लोकपरक अभिव्यक्ति के साथ शास्त्रीय पक्ष भी कथाकली में समादृत है। पृष्ठ में कथापाठ होता है और मंच पर पात्र अपनी मूक मुद्राओं और अभिनय द्वारा नाटकीय तत्त्व की उपलब्धि करते हैं।

यों तो कथाकली की प्राचीनता निःसन्देह मान्य है तथापि १८वीं शताब्दी के लगभग इसका विकास हुआ। इसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। दूसरी शताब्दी में रचित तामिल काव्य 'सिलप्पदिकरम्' में एक चक्कीयार जाति का उल्लेख मिलता है। उसके समय में प्रचलित 'कुडियाट्टम' से कथाकली का संबंध जोड़ा जाता है। किंवदन्ती है कि कालीकट के राजा जमोरिन तत्कालीन प्रचलित लोकनृत्य के आधार पर 'कृष्णनाट्टम' नामक एक नाट्य-रचना कथाकली शैली में तैयार की। उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली। परिणामतः एक पड़ोसी राजा ने नम्बूदरी ब्राह्मणों की सहायता से 'रामनाट्टम' तैयार किया। 'कथाकली' शब्द का अर्थ है संगीत में निबद्ध कथा। नृत्य होते हुए भी अभिनय प्रधानतः कथाकली में प्रमुख है। साधारण से ऊँचे मंच पर 'तिरशीला' (पर्दा) की व्यवस्था चेहरे लगाकर रूप-

अथवा सभी प्रकार के पात्रों का अभिनय चेंडक (नगारे) मुद्दलम (मृदंग) बाँसुरी मंजीरे आदि बाजों का मिला-जुला वातावरण नाट्य की सृष्टि ही अधिक करता है। नाटकों में जिस प्रकार दृश्य योजना होती है ठीक उसी प्रकार अनेक वर्षों में एक ही कथा प्रस्तुत की जाती है।

प्राय केरल के कथाकली नृत्य से यक्षगान नाटकों की तुलना की जाती है। जहाँ तक वेषभूषा भावभंगिमा मुद्राएँ और नृत्य का प्रश्न है यक्षगान नाटक-कथाकली के काफी निकट है। अन्तर केवल अभिव्यक्ति में है। दोनों के प्रदर्शन और अभिनय का ढंग अलग-अलग है। विषयवस्तु के संगठन में अधिक सौन्दर्य यक्षगान नाटक के अन्तर्गत निहित है। यद्यपि लोक-कलाकारों द्वारा इनका निर्माण होता है तथापि लोक मंच की स्वाभाविक विशेषता एवं सौन्दर्य रचना की सात गरिमा में कहीं भी वैविध्य नहीं दीख पड़ता। कथाकली का आधार लम्बी रचनाओं में से चुने हुए सुन्दर अंश होते हैं तथा यक्षगान नाटक अपने आप में परिपूर्ण और व्यवस्थित रचना होती है।

यक्षगान नाटक की कोटि में ही गिने जाते हैं। भरतमुनि ने नाटक को दृश्य काव्य कहा है। यद्यपि उसमें पद्य और गद्य दोनों का समावेश आचार्यों ने स्वीकार किया है। यक्षगान नाटक में गीत और नृत्य का सामंजस्य जनसुलभ रुचि के अनुसार पाया जाता है। संवाद का निर्वाह भी गीतों द्वारा होता है। कथा गीतों के माध्यम से क्रमशः खुलती जाती है। नृत्य के साथ पात्रों का अभिनय प्रदर्शन और संवाद गायन इस ढंग से चलता है कि लोग घंटों बैठे रहते हैं। कैसा ही पात्र क्यों न हो वह पद्य में भाषण करेगा। इससे कहना होगा कि ऐसे लोक-नाटकों का अधिकांश आधार लोक-गीत है।

लोक-गायकों की परम्परा ने आन्ध्र और कर्नाटक के ग्रामों में यह कला सम्हाले रखी। खुले मंच पर इन नाटकों का प्रदर्शन समय-समय पर गाँवों में होता है। गाँव के किसी भी व्यक्ति अथवा कुछ लोगों के मिले-जुले सहयोग से नाटक-मंडलियों की आर्थिक कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं। सहयोग देने की यह प्रथा भारतीय ग्रामों में कोई नई बात नहीं है। नाटक ग्रन्थों में धनीमानी लोगों द्वारा नृत्य-नाट्य आदि उत्सवों के आयोजन करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। दर्शकगण भी कला-अभिनय आदि से प्रसन्न होकर सहायता प्रदान करते थे। तामिल के प्रसिद्ध कवि इलंगो ने अपने काव्य ग्रन्थ में चोल की राजधानी पुहार के मेले का वर्णन किया है। उसमें नृत्य नाट्य और अन्य मनोरंजन साधनों का विस्तृत वर्णन किया है।

वर्तमान यक्षगान नाटक की रक्षा का श्रेय लोक-गायकों को है। इन नाटकों के लिये किसी तरह का बन्धन नहीं है। खुला मंच और दर्शकों की कोई सीमा नहीं। कुछ वर्ष पूर्व इस परम्परा को जीवित रखने के हेतु कवि वल्लतोल के केरल कला-केन्द्र की भाँति यक्षगान कला केन्द्र स्थापित करके एक समिति की स्थापना की गई है। इस समिति के प्रयत्न से शिक्षित समाज का दृष्टिकोण इस दिशा में उन्मुख होने लगा है।

विथि नाटकम्

'विथि नाटकम्' या 'विथि भागवतम्' तेलगु का लोक मंच है। यक्षगान की अनेक विशेषताएँ इसमें सम्मिलित हैं अतएव एक दृष्टि से यह यक्षगान का ही भेद है। पिछली शताब्दियों में इसका खूब प्रचार रहा। 'कृष्णाभिरामम्' नामक श्रीनाथ कवि का नाटक इसी श्रेणी में आता है। 'विथि नाटकम्' का अर्थ है वह नाटक जो मार्ग में प्रदर्शित हो। स्पष्ट है कि ये नाटक लोक जन के प्रबल साधन ही थे। जहाँ जनता में इसका अपरिमित प्रचार रहा वहाँ किन्हीं अंशों में शासकों द्वारा भी इसे प्रेरणा मिली। कूचिपुडी की ब्राह्मण कलाकार मंडलियाँ यात्रा करके अपने प्रदेश की जनता को इनके द्वारा प्रायः मुग्ध कर दिया करती थीं। गाँवों की जनता के लिए इन नाटकों में मनोरंजन की वह प्रणाली उपलब्ध है जिसका वे परम्परा से उपभोग करते आ रहे हैं। इसमें एक या दो पात्र ही मंच पर आते हैं। स्त्रियाँ समूह बनाकर नृत्य करती हैं। कृष्णलीला को नृत्याभिनय द्वारा वैदी ढंग से बड़ी सफलतापूर्वक विथिनाटकम् का विषय बनाया गया है। मंच प्रायः मंदिर के खुले भाग में अथवा साधारण ऊँचाई पर बनाया जाता है। यक्षगान की तुलना में विथि नाटकम् प्राचीन अधिक है।

तोल बोम्मलु

तोल बोम्मलु चमड़े की कठपुतलियों का खेल है। रामायण और महाभारत की कथाएँ इनके द्वारा परदे पर उतारी जाती हैं। सूत्रधार बड़ी कुशलता से इन पुतलियों को संचालित करता है जैसा कि कठपुतलियों का तमाशा करनेवाले किया करते हैं। पुतलियों के स्थान पर कोई भी व्यक्ति पर्दे के पीछे से संवाद-गायन करता है। कहते हैं कि इंडोनेशिया के वायांग नाटकों में इस तरह के भारतीय मनोरंजन की प्रणाली का काफी प्रभाव लक्षित होता है। हास्य का प्रभाव पैदा करने का प्रयत्न सूत्रधार के सह योगी बराबर करते हैं। 'तोल बोम्मलु' प्राचीन होते हुए भी अत्यन्त प्राचीन है।

कामनकोट्टु

पौष के महीने में दक्षिण भारत में पोंगल नामक उत्सव मनाया जाता है। इस समय साधारण जनता विविध प्रकार के मनोरंजन का आयोजन करती है। इसमें एक नाट्य का प्रकार है 'कामनकोट्टु'। 'कामनकोट्टु' कामदेव और रति की पौराणिक गाथा पर आधारित नाट्य है। दो पात्र कामदेव और रति का रूप धारण कर नृत्य करते हैं और वादक मृदंग और बाँसुरी के साथ कथा गाते हैं। लंका में भी जो दक्षिण भारतीय परिवार जाकर बसे हैं वे भी यही नृत्य नाट्य प्रति वर्ष करते हैं।

जहाँ तक दक्षिण भारत में लोकनाट्यों का प्रश्न है उनके पीछे पौराणिकता अधिक है। तमिलनाडु आन्ध्र कर्नाटक सभी क्षेत्रों में ग्रामीण नाट्य मनोरंजन की अपेक्षा धर्मगत भावना से अनुप्राणित कहे जा सकते हैं। प्रायः देर रात्रि में आरंभ होकर वे सुबह तक चलते हैं। उत्साह की कमी भी नहीं पायी जाती। साधारण से आयोजन पर भीड़ हो जाना स्वाभाविक है। बड़े पात्रों में तेल भर कर प्रकाश की व्यवस्था रूप-सज्जा वाद्य आदि का ठाट देखते ही देखते जम जाता है। कोई लिखित सामग्री नहीं होती। सभी पात्र अपनी स्वाभाविक ढंग से बोलते हुए कथा को आगे बढ़ाते हैं।

दक्षिण भारत के समस्त लोक-नाट्यों की आत्मा एक ही है। धार्मिक तत्वों से परिपूरित होते हुए भी सामाजिक जीवन का चित्र प्रभाव दैन्य चमत्कार और हास-परिहास की सामग्री उनके गतिशील जनसुलभ भावों का प्रतिबिम्बित करती है।

तामिल तेलगु और कन्नड़ी भाषाओं में अनेक एक-दूसरे से मिलते-जुलते रूप मिलते हैं। द्राविड़ी संस्कृति के अध्येताओं को इन लोक-नाटकों में उत्तर भारतीय लोक-नाट्य परम्परा की अपेक्षा संस्कृत नाट्यों की परम्परा का स्पर्श अधिक मिलेगा। ग्रामीण जन की स्फूर्ति और आन्ध्र कर्नाटक और तामिल के संस्कारों का प्रायोगिकवाद यक्षगान विधिनाटकम्, और तोलबोम्मलाट के स्वरों में स्पन्दित होता है।



विविध प्रहसन

बिदेसिया

'बिदेसिया' बिहार के भिखारी के प्रयत्नों से विकसित भोजपुर जनपद का ऐसा नाट्य है जिसमें प्रेमकथाएं, सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में अभिनय का आधार बनाई गई हैं। 'बिदेसिया की विशेषता उसकी आधुनिक भाव-व्यञ्जना और सामाजिक यथार्थ पर करारी चोट है। आज के भोजपुर और बिहार क्षेत्र में इस प्रकार के गीतनाट्य आज खेले और लिखे जा रहे हैं।

कड़ा

राजस्थान में वीररस पूर्ण एक नाट्य शैली कड़ा' के नाम से विख्यात है। कड़ा में किसी लोक कथा का गायन एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है पर उसकी प्रमुख पंक्तियां पूरा समूह दुहराता है। वाद्य के नाम पर नगारा ही टेक बोलने पर भिड़किड़ाता है।

जट्ट-जट्टमी

मिथिला, उत्तर बिहार और भोजपुर क्षेत्र के अनेक ग्रामों में गीतों से भरा यह लघु प्रहसन बहुत प्रचलित है। मूक अभिनय इससे सम्बद्ध है। साधारणतया बिना गद्य के गीत ही गीत में यह प्रहसन पांच अंकों तक विस्तार पा लेता है। अंकों की मान्यता भी तो साधारण लोगों में नहीं होती पर कथानक के मोड़ ही अंकों की सम्भावना अपने आप कर देते हैं। चौमासा लगते ही स्त्रियां इस प्रहसन द्वारा एकत्र होकर प्रायः मनोरंजन करती हैं। दो दल में विभक्त होकर इसकी आयोजना की जाती है। एक दल की प्रमुख जाट (जट्ट) और दूसरी की जाटनी (जट्टमी) बनती है। दोनों दल एक दूसरे के समक्ष विशेष मुद्रा में खड़े होकर अभिनय के साथ गीतों ही द्वारा उत्तर प्रत्युत्तर देते हैं। जो स्त्री जाट का अभिनय करती है वह अपने माथे पर मोटा साफा या पगड़ी और तन पर बंडी पहन लेती है। शेष पात्र जरूरत के अनुसार जो भी मिले उसे पहनकर अभिनय का वातावरण बना लेते हैं। प्रस्तुत प्रहसन में किसी वाद्य की आवश्यकता नहीं होती। मंच मदान में ही समझो। जहां थोड़ी सी स्त्रियां एकत्र हो सकती हैं वही जगह मंच के लिये पर्याप्त है। नीचे "जट्ट-जट्टमी" का उदाहरण उद्धृत[1] किया गया है —

जाट कहता है

'चल चल हे जट्टिन, जमुनमा के तीर ।
तुम टीकवा बेसाहब जमुनमा के तीर ।।

("हे जट्टी यमुना के किनारे चलो वहां मैं तुम्हें टीका खरीद दूंगा।") जट्टी इनकार की मुद्रा में कहती है —

1 नई धारा, सितम्बर, १९५४ ।

जट्-जट्टनी

'टीकवा मँगलीओ जट्टा टीकवो न लेल जट्टा ।
मँगीआ उदास मोर, हम नहीं जएबौं जमुनमां के तीर ।।'

(" मैंने तुमसे टीका माँगा था तुम नहीं लाए । मेरी माँग उदास है यमुना के किनारे नहीं जाऊँगी ।)

जट्टा उत्तर देता है

'जब जब टीकवा लसिमी जट्टिन टीकवा काहे ने पेन्हल हे ।
हरी-हरी चुनरी समरिया मैहरा काहे गल हे ।।
माय बाप निरधन जट्टिन बचि-बचि ललको है ।
मंगीआ उदास जट्टिन मैहरा का गेल है ।।'

(" जब-जब मैं टीका लाया तब-तब तुमने पहना क्यों नहीं ? पीहर जाने से तेरी हरी चुनरी धूमिल हो गई । हे जट्टी तेरे माँ-बाप गरीब हैं वे तेरा टीका बेच कर खा गये । अब तो तेरी माँग उदास ही रह गई, तू पीहर क्यों गई ? ")

अब जट्टी की मूक मानमनौआ प्रारंभ होती है । जट्टा मनाने का अभिनय करता है पर जट्टी मानती नहीं । वह ठमक-ठमक कर दूर हो जाती है । यहाँ से दूसरा अंक प्रारंभ होता है । जट्टा खीझ कर कहता है -

'लम्म के चलिह जट्टिन लम्म के चलिह न ।
जैसे कांच करचिया लम्मे तैसे लम्मिह न ।।

(" हे जट्टी, नम्रतापूर्वक चलो । जैसे कच्चे बांस की टहनी झुकी रहती है वैसे ही झुक कर रहो । ")

जट्टी उत्तर देती है -

'न लम्मबौ न लम्मबो हो जट्टा न लम्मबौ न ।
जैसे गोहुमन सांप ऐंठली तैसे ऐंठबौ न ।।

("हे जट्टा मैं नहीं नम्रता से रहूँगी । जिस प्रकार गेहुँमन सर्प गर्वोन्मत्त होकर रहता है उसी तरह रहूँगी ।")

जट्टा

'लम्म के चलिह हे जट्टिन लम्म के चलिह न ।
जैसे गाँव के पुतोहु लम्मे तैसे लम्मिह न ।।

("हे जट्टी नम्रतापूर्वक चलो । जिस तरह गांव की बहुएं नत होकर चलती हैं उसी प्रकार चलो ।")

जट्टी

'न लम्मबौ न लम्मबो हो जट्टा न लम्मबो न ।
हम त बाबा के दुलारी धीया, ऐंठ चलबौ न ।।

("हे जट्टा मैं नहीं नम्रता से रह सकती । मैं अपने पिता की प्यारी कन्या हूँ मैं तो इठला कर ही चलूँगी " ।)

अब जट्टा धमकी की मुद्रा में कहता है

'लम्म के चलिह हे जट्टिन, लम्म के चलिह न ।
हमर बाबा सरदार जट्टिन, बैंगवाए देतौ न ।।

("हे जट्टी नम्रतापूर्वक चलो। नहीं तो मेरे पिता सरदार हैं तुम्हें बँधवा दूँगा।")
इस पर जट्टी भी ठमक कर कहती है—

'न सम्मथो न सम्मथो हो जट्टा न सम्मथो न।
हमर बाबा जमींदार जट्टा, छोड़ाये लेतौ न ।।'

("हे जट्टा मैं नहीं नम्रतापूर्वक चलूँगी। मेरे पिता जमींदार हैं वे मुझे छुड़ा लेंगे।")

दूसरा अंक समाप्त होकर अब तीसरा अंक प्रारंभ होता है। इसमें जट्टा पर देश जाने की तैयारी करता हुआ कहता है—

'हमर त टोपिया बेच बेल जट्टिन
अब जट्टिन जाये देहु बिदेस।
हमर त कुरता बेच बेल जट्टिन,
अब जट्टिन जाये देहु बिदेस ।।'

("हे जट्टिन तुम तो कुरता-टोपी बेच कर खा गई, अब मुझे परदेश जाने दो।")

जट्टी इनकार के मुद्रा में कहती है—

'मोंढ़ू से उत्तिम सिलाय देब हो जट्टा,
पेन्हाय देब हो जट्टा।
जनि जट्टा जाहु बिदेस ।।'

("हे जट्टा मैं उससे भी उत्तम सिलाकर तुम्हें पहनाऊँगी। तुम हमरा बिदेस मत जाओ।")

जट्टा—

'हमर त धोतिया बेच बेल जट्टिन
अब जट्टिन जाय देहु मोरंग देस।
हमर त छाता बेच बेल जट्टिन,
अब जट्टिन जाये देहु मोरंग देस।

("हे जट्टी मेरी धोती और छाता तो तुम बेच कर खा गई। अब मुझे मोरंग देश जाने दो"।)

जट्टी रोने की मुद्रा में भ्रमय भरे शब्द में कहती है—

'मोरंग मोरंग सुनिये, मोरंग मति जयु हो जट्टा
मोरंगवा में असली जोगनियाँ हो जट्टा।
उतरियो न ताके मतरियो न ताके हो जट्टा ।।

("मैं मोरंग-मोरंग सुनती हूँ मोरंग नहीं जाओ। सुनती हूँ कि मोरंग में असली जोगिन रहती हैं जो योग करने के पश्चात उलट कर देखती भी नहीं।)

जट्टा—

'मोरंग मोरंग सुनिये मोरंग हम जाएब है जट्टिन।
मोरंग से टीकवा ले आएब है जट्टिन ।।
मोरंग में असली जोगिनयाँ है जट्टिन।
मोढ़ू के पेन्हा के तोरा ललचाएब है जट्टिन ।।'

(हे जट्टी मोरंग-भारंग सुनता हूँ तो अवश्य आऊंगा। और वहां से टीका भी लेता आऊंगा। मोरंग की अच्छी धातु का टीका पहना कर तुझे सजाऊंगा।) यह सुनकर जट्टी रूठ कर नैहर चली जाती है। तीसरा अंक समाप्त हो जाता है। चौथे अंक के प्रारंभ में जट्टा जट्टी के नैहर जाने का अभिनय करता है। अपने पत्नी में जट्टी घिर जाती है और जट्टा जट्टी के मां-बाप माई-भौजाइ में परिणत हो जाता है। अब जट्टा अपने ससुर से पूछता है

'बाबूजी बाबूजी, यही नगरिया जटिन के अवत देखली न।

(बाबूजी मैंने जट्टी को इस नगर में आते देखा है।)

ससुर की ओर से उत्तर मिलता है

'नहीं रे नहीं रे यही नगरिया, जटिन न आएल रे।

(नहीं नहीं जटिन यहां नहीं आई है।)

जट्टा

'बाबूजी बाबूजी यही नगरिया
जटिन के बाजर कूटत देखली न।
अंगना बहारते देखली न
अंगना अंगरते देखली न॥

(बाबूजी मैंने इसी नगर में जट्टी को बाजरा कूटते देखा है। रसोई बनाते और आला लाल भी देखा है।)

'नहीं रे नहीं रे यही नगरिया,
जटिन न आएल रे।

(नहीं नहीं यहां जट्टी नहीं आई है।)

यह सुनकर जट्टा निराश होकर चला जाता है। इधर जट्टी के माता-पिता जट्टा के भय से जट्टी का वेश परिवर्तन कर देते हैं और प्रचारित करते हैं कि यह मेरा पुत्र "रोहूदास" है। "रोहूदास" बनी जट्टी को एक घाव हो जाता है। उसके माता पिता किसी अच्छे वाले एक जर्राह की तलाश करते हैं जो उसके घाव का रक्त चूस कर उसे स्वस्थ कर दे। जट्टा तो चुपके-चुपके अनुसरण कर ही रहा था वह तुरन्त जर्राह का वेश बनाकर वहां पहुंचता है। जर्राह को पाकर उसके माता पिता अनुनय करते हैं

'रोहू दास के हाथ के बाला, रोहू दास के हाथ के अंगूठी।
हमहूं देबौ हो बैद जी, रोहू दास के देहु छोड़ाए।'

(हे वैद्यजी रोहूदास के हाथ का बाला और अंगूठी मैं तुम्हें पुरस्कार में दूंगा। इसे अच्छा कर दो।)

जर्राह 'रोहू दास के हाथ के बाला, रोहू दास के हाथ के अंगूठी
हमें नहीं लेबो बाबू रोहू दास के देबो छोड़ाए।'

(रोहू दास के हाथ का बाला और अंगूठी मैं नहीं लूंगा। परन्तु इसे यों ही अच्छा कर दूंगा।)

इसके बाद जर्राह रोहू दास की मरहम-पट्टी में संलग्न होता है। रोहू दास स्वस्थ हो जाता है। अब जर्राह बनी जट्टा को कुछ भी सन्देह बाकी न रहा कि रोह

परिशिष्ट

१ कठपुतली का खेल

कठपुतली के खेलों का सम्बन्ध सुदूर इतिहास की गहराइयों से जुड़ा हुआ है। यह बताना कठिन है कि यह खेल कितना प्राचीन है अथवा इसका मूल स्रोत क्या है। भारतीय पूर्वकालीन तान्त्रिक अनुष्ठानों, चीन के प्राचीन धार्मिक उत्सवों, इजिप्त के मकबरों और ग्रीस के दार्शनिक विचारों में इसका उल्लेख मिलता है। भारतवर्ष और उसके निकटवर्ती देशों में तो यह खेल अभी भी किन्हीं अंशों में जीवित है। नाटकों में प्रयुक्त 'सूत्रधार' शब्द से कठपुतलियों के सूत्र द्वारा संचालित करने का आशय ही सम्बन्ध है। सूत्रधार का प्रयोग इसी कठपुतली के खेल से नाट्यशास्त्र में अपनाया गया 'यह निर्विवाद है। इसमें सन्देह नहीं कि कठपुतली का खेल प्राचीन काल से ही लोगों के मनोरंजन का सर्वप्रिय साधन रहा है। भारतवर्ष में आज भी राजस्थान मालवा सौराष्ट्र महाराष्ट्र और मलाबार प्रान्त के कुछ भागों में यह परम्परा-प्रचलित खेल विद्यमान है। भारतवर्ष के बाहर इसका जो रूप मिलता है वह निस्सन्देह भारतवर्ष के अनुरूप ही है। पश्चिम में आधुनिकता का स्पर्श पाकर अब तो थियेटरों तक में यह खेल सम्मान पाने लगा है जहाँ लोग प्रवेश पाने के लिये लालायित रहते हैं। कहना न होगा कि कठपुतली का खेल अपनी सर्वसुलभ विशेषताओं और अपनी चमत्कारिक कला एवं प्रभाव के कारण ही भारत लंका चीन जावा और सुदूर पश्चिम के कुछ देशों में नष्ट न होकर लोक-मनोरंजन का माध्यम बना हुआ है।

कठपुतली का निर्माण

कठपुतली वैसे तो शाब्दिक अर्थ के अनुसार काठ की पुतली है पर उसके निर्माण में काठ के अतिरिक्त कपड़ा और चमड़ा भी काम में लिया जाता है। कठपुतली लम्बे-चौड़े आकार की गुड़िया की तरह लचकदार पुतली होती है जो रंगीन वेशभूषा और कल्पित आकार-प्रकार एवं सज्जा के साथ तैयार की जाती है। देहली तथा जयपुर-जोधपुर में कठपुतलियाँ तैयार करने वाले कई पेशेवर लोग रहते हैं। गोल चेहरा लम्बी मछली की भाँति आँखें तनी भौंहें और लम्बे कानों तक खिंचे हुए ओठों को देखकर पुतलियों की खास ढब पहचानी जा सकती है। उसमें अधिक वजन नहीं होता। कुछ देशों में प्लास्टर के साँचों का प्रयोग किया जाता है जिससे कि आकृति में समानता बनी रहे और काम भी जल्दी हो जावे। जयपुर की पुतलियों में व्यक्तित्व के अनुरूप लम्बाई-चौड़ाई होती है। प्रत्येक पुतली के पीछे सूत्र बाँधने के लिए हुक होता है। इन पुतलियों को खराद पर ऊपर से रंग रोगन लगाया जाता है। राजस्थानी पुतलियों का रंग राजस्थानी शैली से मिलता है। दक्षिणी पुतलियों की बनावट दाक्षिणात्य ढंग की होती है।



'कठपुतली' के साथ गानेवाली महिला



मुगल दरबार

पुतली का खेल करने वाला किसी भी समुचित स्थान पर एक चारपाई खड़ी करके उसके आगे अपनी पुतलियों का मंच बना लेता है। भारतवर्ष में मुगल दरबार जैसे ऊँचे ऊँचे स्तम्भों और मेहराबों के पीछे पुतलियां संचालित की जाती हैं। दर्शक सामने बैठते हैं जिससे उन्हें प्रत्येक गतिविधि दरबार में होती हुई दीखती है। दरबार की छत खुली हुई होती है जहां से सूत्रधार पुतलियों को उतार कर अपनी अंगुलियों के कुशल संचालन से सजीवता का आभास उत्पन्न करता है। यह दरबार रंगीन वस्त्रों का बना हुआ होता है जो कहीं भी रस्सियों से बांधकर चारपाई के आगे शामियाने की भांति खड़ा कर लिया जाता है। दरबार की ऊँचाई प्राय: ३ से ४ और लम्बाई ८ से १० फुट तक होती है। और उसी प्रमाण में पुतलियां होती हैं। राजाओं की पुतलियां बड़ी और दरबारी तथा आम लोगों की पुतलियां छोटी होती हैं। साधारण व्यक्ति राजा के सम्मुख आते हुए कांपते हैं। नर्तकी एक विशेष ढंग के साथ दरबार में एक हाथ से चाँवरे का छोर उठाये नृत्य करती है और पास ही ढोलकिया आते हुए ताल देता है। नृत्य की साधारण गति कत्थक से बहुत कुछ मिलती है। शूरवीर मंत्रवत् तलवार घुमाते हैं जिससे एक अतिमय वातावरण बन जाता है। जोधपुरी पुतली वाले तो इस कला में अत्यन्त निपुण हैं।

कठपुतली के प्रकार

प्रमुख रूप से कठपुतली के चार विशिष्ट प्रकार उल्लेखनीय हैं —

१ भारतीय कठपुतली —जिसे सूत्र द्वारा संचालित किया जाता है। लंका और ब्रह्मा में भी इसी प्रकार की पुतलियों का प्रचार है। इन पुतलियों के अंग एक-दूसरे से जुड़े हुए और लचकदार होते हैं। यह सबसे अधिक प्रचलित प्रकार है।

२ मौजों वाली पुतली —(ग्लोव डॉल) का प्रचार इंग्लैण्ड में 'पंच और जूडी' फ्रांस में 'गुगनाल' एवं जर्मनी में 'कैसपर' के नाम से पाया जाता है।

३ सलाई वाली पुतली —नीचे की ओर से सलाई द्वारा संचालित की जाती है। तुर्किस्तान और चीन में इसका प्रचलन है।

४ छाया पुतली —इसका भी एक प्रकार है जो सलाई द्वारा संचालित होती है। पर मुख्य पुतली की अपेक्षा उसकी परछाईं को ही पर्दे पर दिखाया जाता है। दक्षिण भारत में 'पावाकूथू' के नाम से यह पुतली प्रसिद्ध है।

प्रदर्शन के विषय

उत्तर भारत के गाँवों में 'कठपुतली रो खेल किरासो' की आवाज देकर घूमने वाले कई व्यक्ति उन दिनों दीख पड़ते हैं जब कि लाग लागी समय में होते हैं। राजस्थानी पुतली (जिसे भारतीय पुतली कहा जा सकता है) अपना विशिष्ट महत्व रखती है। मलाबार में इन्हीं पुतलियों के द्वारा रामायण महाभारत आदि की कथाएं प्रदर्शित की जाती हैं। मंदिरों के उत्सवों के अवसर (पुरम् या मेला) पर इनके खेल आयोजित होते हैं। कुकुर, परम्परा से कठपुतली के खेल करने वाले इन्हीं अवसरों पर अपना काम करके वार्षिक आय के रूप में कुछ प्राप्त करते

है। खेल दिखाने का स्थान मंदिर अथवा कोई नियोजित खुली जगह पर ही 'कुथुमंडपम्' के नाम से बनाया जाता है। उत्तर भारत में रामायण अथवा महाभारत की कथाओं के बजाय ऐतिहासिक घटनाओं अथवा सामाजिक हास्यों के प्रदर्शन का रिवाज अधिक है।

राजस्थान की कठपुतलियों के पृष्ठ में ऐतिहासिक वृत्तों का अथवा लोक-प्रचलित कथाओं का समावेश है। राजा अमरसिंह राठौर के शौर्य वर्णन और प्रदर्शन में जयपुरी पेशेवर बहुत निपुण है। राजा का खेल मुगल दरबार से आरम्भ होता होता है। सात किले में दरबार भरा है। ढालक की थाप के साथ गीतकार गीत-कथा को प्रारंभ करता है। अकबर और शाहजहां का जमाना है। अमरसिंह दरबार में नहीं है। शाहजहां अमरसिंह की गुस्ताखी से खफा होकर तुरन्त दण्ड घोषित करता है। अमरसिंह का राजपूती खून खौल उठता है। वह बादशाह की इस आज्ञा का विरोध करता है। इस पर बादशाह अमरसिंह को तुरंत दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा देता है। अमरसिंह दण्ड की रकम जमा करने के बहाने दरबार में आता है और अपनी तलवार से कई व्यक्तियों को मौत के घाट उतारता हुआ बादशाह पर हमला करता है पर सौभाग्य से वह भाग जाता है। घटना का मौखिक स्वरूप कुछ इसी प्रकार है।

यद्यपि यह घटना सन् १६४४ की है, पर समस्त उत्तर भारत में कठपुतली-वालों के द्वारा वह अपने लोकग्राही रूप में अभी भी ताजी है। इधर सूत्रधार अपनी कुशलता से अमरसिंह की विशेषताओं को नाटकीय ढंग से प्रदर्शित करता है उधर उसकी सहयोगिनी ढोलक वाली अपनी मारवाड़ी धुनों में घटना को गाती है और ढोलक की तेज थापों और सूत्रधार की सीटी के साथ पुतलियां मचककर चपलतापूर्वक खेल में रौनक लाती है। छोटे से मुगल दरबार में युद्ध क्रोध और साहस के कार्यों का दृश्य देखने योग्य होता है।

मधुकर के शब्दों में सूत्रधार को कलाकार, कारीगर, संगीतज्ञ भाट और प्रमुख रूप से किस्सागो होना पड़ता है, तभी वह कुशलतापूर्वक अपनी कठपुतलियों द्वारा प्रभावित कर सकता है।

बालकों के लिए इन पुतलियों में ऐसी सजीवता है जो परियों के लोक से कम नहीं। राजपूताने के साहस और मुगल दरबार का वातावरण कल्पना और पुतलियों के माध्यम से उभर आता है।

संरक्षण की आवश्यकता

पुतलियों का अपना संसार है। इस प्राचीन लोक-कला का संरक्षण जरूरी है। कठपुतलियों का खेल करने वालों की अपनी खास विशेषताएं हैं जिन्हें वे परम्परा से सहेजे हुए रहते हैं। कठपुतलियों का एक साथ जमाव वातावरण में गति पैदा करना और ध्वनि के अनुरूप चपलता का एक साथ निर्वाह करना कुशल एवं पेशेवर कलाकार के लिये ही संभव है। भारतवर्ष (राजस्थान में) यह कला पूरे जोश के साथ विकसित हुई। जोधपुर के निकट वर्षों से इस कला को धंधे के रूप में पोषित किये कई कुटुम्ब बसे हुए हैं। यही लोग समय-समय पर दूर-दूर तक

यात्रा करते हैं। राजपूत राजाओं और जागीरदारों ने अपनी समृद्धि के युगों में इन्हें खूब आश्रय दिया। गुजरात काठियावाड़ और मालवा में भी उन्हें यथोचित संरक्षण मिलता था। आज भी लोक-मनोरंजन के साधनों के पुनरुद्धार के इस काल में कठपुतली के खेल को पुनः प्रतिष्ठा प्रदान करना राष्ट्र के लिये गौरव का विषय होगा। इस दृष्टि से भारत के सूचना और प्रसार विभाग ने कुँवरसिंह पर एक खेल तैयार करवाया है 'श्री कुँवरसिंह की टेक' के नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रशंसनीय प्रयोग है इसी माध्यम से और भी घटनाएँ प्रस्तुत करना अपेक्षित है।



२ छाया नाट्य

छाया का अपना अनोखा सौंदर्य है। उसमें रहस्यात्मकता और आश्चर्य भावना का स्पर्श निहित है। कल्पना और सत्य दोनों यहाँ एक साथ आते हैं।

छाया-नाट्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भारत चीन और दक्षिणपूर्वी एशिया में यह कला कभी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। रूस में बाल शिक्षण के लिए प्रयुक्त 'टॉय थियेटर' के समानान्तर ही इस माध्यम का विकास हुआ। भारतवर्ष में छाया-नाट्य लोगों के मनोरंजन का साधन बनकर सर्वव्यापी महत्व की वस्तु तो बना ही किन्तु उसने निकटवर्ती देशों को भी प्रभावित किया है। मलाबार और आन्ध्र के गाँवों में इसके खेल आज भी उत्सुकता से देखे जाते हैं। मलाबार में इसे 'पावाकुतु' के नाम से पुकारते हैं। तामिलनाड में भी इसका पर्याप्त प्रचार है।

छाया-नाट्य लोगों का अपना मनोरंजन है। आन्ध्र मलाबार और तामिल नाड में इसका खेल करने वाले दल प्राय गाँव-गाँव घूमा करते हैं। पौराणिक आख्यानों के आधार पर कथाओं का सिलसिला बैठा कर नाटक प्रस्तुत करना इन दलों के लिए सहज विषय है। तामिलनाड में कम्बन रामायण का पाठ किया जाता है। अब छाया-नाट्य के विषय देवता राक्षस और पुराणों के प्रसिद्ध चरित्र हैं।

छाया-नाट्य आरम्भ करने के पूर्व बाँस की दो बल्लियों पर एक सफेद कपड़ा तान दिया जाता है। यह आयोजन प्राय गाँव के बाहर किसी जलाशय या मन्दिर के निकट अथवा नारिकेल या ताड़ वृक्ष की पृष्ठभूमि लेकर किया जाता है। पट के पृष्ठ में कुछ दूरी पर दीपक प्रज्वलित किये जाते हैं। नाट्य का प्रारम्भ करने के पूर्व दर्शकों की ओर अन्धकार कर दिया जाता है। पट पर दीपकों के प्रकाश के सहारे चमड़े या काठ की बनी हुई आकृतियों की छायाएँ संचालित की जाती हैं। ज्यों ही छाया-नाट्य शुरू होता है पट के निकट बैठे कथोपकथन संवाद आरम्भ कर देते हैं। आकृतियाँ संचालित करने वाला सूत्रधार पर्दे के पीछे इस तरह बैठता है कि उसकी छाया पट पर नहीं आने पाती। आकृतियों को संचालित करते समय वह भी कभी-कभी पृष्ठ से ही संवाद बोलता है। दल के मुख्य गायक दर्शकों के सामने पट के आगे बैठे ऊँची आवाज में कथा-पाठ करते हैं। इस तरह छायानाट्य धूमधाम से आरम्भ होते हैं।

छायानाट्य की कला ने बर्मा मलाबार, स्याम और इण्डोनेशिया के अनेक आधुनिक नृत्यों को प्रभावित किया है। उदयशंकर ने इस माध्यम से रामलीला को नूतनतम रूप में प्रस्तुत कर प्रयोग को सफल बनाया है। जावा और बाली शैलियों के रूपों पर प्रभाव का आरोप अधिक स्पष्ट है। जावा के छाया-नाट्यों की अधिकांश कथाएँ भारतीय हैं। इसे यहाँ 'वायंग' या 'वायंग' कहते हैं। राम और अर्जुन यहाँ के मुख्य एवं प्रिय पात्र हैं। चीन में छाया-नाट्यों का शिल्प अधिक अच्छी तरह विकसित हुआ है। चीन को इसे दूर तक ले जाने का

भेद भी प्राप्त है। यहाँ के लोगों का यह प्रिय मनोरंजन है। लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व से एक अमरिकी स्त्री पामिल बेस्टन इस माध्यम का प्रयोग अमेरिका में करती आ रही है। उसने अनेक प्रयोग किये हैं। चीन व बहु आकृतियों के प्रदर्शन की यह कला सन् १९२१ में लेकर आयी थी। उसकी आकृतियाँ और प्रदर्शन का ढंग भारतीय और चीनी ढंग का है। अब छायानाट्य का भाव अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है।

इतना होते हुए भी छायानाट्य पूर्णतया लोकधर्मी है। ग्रामीण जीवन में उसका प्रभाव अटूट है। लोगों के इतने निकट होने के कारण यह शैली किसी भी परिष्कृत बाह्य साधन के प्रभाव से वंचित है। यह अधिक संभव है कि लोगों की भावनाओं से उसका सम्बन्ध होने के कारण छायानाट्य सम्बन्धी प्रयोग सफल होंगे।



३ रास

रासलीला का रंगमंच अत्यन्त साधारण और सरल होता है। ऊँचे तख्त या चबूतरे पर चादर बिछा दी जाती है। उसी पर अभिनेता आ जाते हैं। जनता चारों ओर घेर कर बैठ जाती है। एक ओर स्त्री और दूसरी ओर पुरुष। राधा कृष्ण और सखियों के पदार्पण करते ही जनता उठकर उनका अभिनन्दन करती है। कोई चरण-स्पर्श को दौड़ पड़ते हैं। राधा और कृष्ण काठ की बनी नक्काशीदार कुर्सी पर विराजमान होते हैं और नान्दी पाठ प्रारम्भ हो जाता है। जिसमें जयदेव के गीत-गोविन्द वल्लभाचार्य और हितहरिवंश आदि के स्तोत्रों से वन्दना होती है। इसके बाद एक सखी कृष्ण से कहती है—'रास को समय है गयो अब आप पधारो।' कृष्ण खड़े होकर राधिका जी से निवेदन करते हैं—

राधे रूप उजागरि श्याम कामिनी कृपा की कोर। आगे कृष्ण फिर निवेदन करते हैं—

रसिकजन रजधानी महारानी कृपा करि हेरो।
मन मोहत राधे तेरो।
चलो चलें सब बन की ओर
करिए कृपा की कोर,
राधा भानुकुमारी।

राधा— नन्दकिशोर गोकुल कुञ्ज बिहारी।
कृष्ण— चलिये सघन बन की ओर ओ मम प्राण पियारी।
बोलत चातक मोर फूली अति फुलवारी।।
राधा— मैं न चलूँ बन की ओर तू नटखट गिरधारी।
(दर्शक—कृष्ण भगवान की जय)
तुम प्रीतम चित चोर उलटी रीत तुम्हारी।
कृष्ण— हा हा काहे कहावत चोर, तुम चित चोर बिहारी।
निरखो कृपा की कोर तुम राधा प्यारी।
ब्रज बनितन सिरमौर, तुम भोरी भारी।

इसके बाद कभी राधा-कृष्ण का युगल नृत्य होता या फिर सामूहिक नृत्य होता जिसमें राधा कृष्ण गोपियाँ और ग्वाल शामिल होते हैं। इस प्रकार नृत्य गायन और कथोपकथन के साथ रासलीला चलती रहती है। अन्त में कृष्ण वृन्दावन की महिमा का वर्णन करते हैं—

राज-पाट को नाहिं करैया, कोटि कमरिया आप धरैया।
रथ बिमान पर नाहिं चढ़ैया, तरु पीठ पर नाहिं चढ़ैया।
पावन पावन भये डोलो ब्रज रज सम कोउ नाहिं।
जो रस बरस रह्यो ब्रज माँही या को दरसन भी कछु नाहिं।

—साहित्यकार, अगस्त १९६६ से साभार उद्धृत।

४ राजा हरिश्चन्द्र नाच का अंश

(रंगत लावनी)

भजी सत का राजा सत की रानी सत की धीमी आसमान में तानी। भजो सत का पवन सत का पानी सत की राजा बोलते बानी ॥१॥ भजी सत का सूरज सत का चन्दा सत का न्याव देवसी छानी। सत के दंत बत्तीस बनें के सत की जबान बात है सारी। भजी सत के काम पर शीस बनें के सत के नाम को जपत उभारी ॥

(बोल राजा हरिश्चन्द्र को)

—•—

(रंगत छोटी)

सतधारी हरिश्चन्द्र भाये राजा सतधारी हरिश्चन्द्र ।टेक। जिन दुख गणपत के सुमरत मिट जाय मन को धन्द ॥ सरसत माता तुम्हें मनाता बांच बड़ा को छंद ॥ तारालोचनी नार हमारी रहे मन में आनन्द ॥ सुन्दर सूरत बड़ी है शोभा नजर करी सब बन्द ॥२॥ पुरी अयोध्या में राज हमारा तपता सूरज चन्द । सतयुग के सतधारी राजा सुत सुत सूरज मंद ॥३॥ नाम लिया से निरमल होवे कट जावे सब फंद । इन्द्र लोक में नाम जिन्होंका जपी हुए सब मंद ॥४॥

(बोल तारालोचनी को)

—•—

(रंगत दोहरी)

हूं तो म्हारे तारालोचनी नार । सत को करो सभी शृंगार ॥ टेक ॥ पति हमारा सतधारी हरिश्चन्द्र सत की धारी नार । धुत करम की नाव बनाके उतरांगा समुद्र पार ॥ १ ॥ झूंठ बोले जो कोई जन मारे सो नर नरक निहार । सतयुग में सतधारी राजा हुआ मुलक में सार ॥ २ ॥ भूक को भोजन मिल जावे दुखिया पावे इकार । तन मन धन कोई हम देस्यां देवो सिर को मार ॥ ३ ॥ पति म्हारो परमेस्वर म्हारा दिल में नेको धार । नित उठ सेवा करूं मंदरो रखो तुम्हारी नार ॥ ४ ॥

(बोल ध्रुव को)

—•—

आयारे धरमराज का दूत देखने आयारे ॥ टेक ॥ हुकम करने सतधारी राजा जिन यहां आया । जिन ढूं लाया ॥ १ ॥ आयारे ॥ धरम पत्र में नाम लिखाया धन्नी ढूं बैकुंठ पौहचाया ॥ सब चौरासी जिहे भुगताया ॥ आयारे ॥ ३ ॥ ऊपर है सूरज की मार लगाया । भर मुट्ठी पानी को लाया । आयारे ॥ ४ ॥ जहां सत होय वहां हम जाया । आकर हुकम आज उठाया ॥ आयारे धरमराज का ॥ ५ ॥

(बोल तारालोचनी को)

—•—

(रंगत इकहरी)

अजी या जीव पराई वो दिन विसमी ने पाछी वह दीजो ॥ टेक ॥ कर करार विसर तो बदे फिर नहीं इस पर जोरा। क्या करो माइयी वाली देखो ठिकाना और ॥ १ ॥ कर करार ब्रह्मा शिव आये आये श्री भगवान। त्रेता युग में राम भया है, द्वापर में भया कान्ह ॥ २ ॥ हुक्म बिना हाकिम नहीं माने बेच दिया अमूत। पकड़ हाथ आगे धर सीना कौन पिता कौन पूत ॥ ३ ॥ चंदा आवगा सूरज आवगा आव पवन और पानी। एक जीव तो नहीं आवेसी कहे बालमुकुन्द ग्यानी ॥ ४ ॥

(बोल पदमावती को)

—•—

(रंगत छोटी)

पुरी अयोध्या वासा म्हारे कोई सतवादी हरिश्चन्द्र बतावो ॥ टेक ॥ कच्चा सूत कुम्हार का ची क्या कच्चा सूत कतावो। निरमल नीर भरा सागर है हीरा मोती म्हारे लिरावो। कोई राजा हरिश्चन्द्र बतावो ॥ १ ॥ धरमराज का पूत देखणो आसा गोरा मुख की गावो। नित उठ सेवा करां बंदगी हम वह कैसी हुक्म चढावो ॥ २ ॥ कोई सतवादी हरिश्चन्द्र बतावो ॥ पदमावती अरजे करे है उसको आ समझावो। परसूराम के काज आज तुम दुसमन के घर आने लिखावो ॥ ३ ॥ कोई सतवादी हरिश्चन्द्र बतावो ॥

—•—

(रंगत झेला में)

अजी राजा मैं तो आई आपके पास ज्याची दर्शन की ॥ टेक ॥ तुम्हारा तीन लोक में नाम भरयो परसन की। म्हारे सपन्यो मैं ठ वयोग वद लिया दरसन की ॥ १ ॥ परवाने मा अबकी खड़ी हूं सुनो जी हमारी बात। क्यों माया में लिपट रमा हो सूनो ना हाट की हाट। पूंजी जमा सब मंत्र भुला दिया मन कुबुद्धि वाली नाथ। कस्य राम कासो बस कीनी या बैठो टिपारी मात ॥ २ ॥ इस राजा अरजे उस जोग्या क्यों छोड़ो जी घरबार। पदमावती पल पल रोवे अस्या नया वाली सिरदार ॥ ३ ॥ राजा मैं तो आई आपके पास ॥

(बोल पदमावति को)

—•—

(रंगत झकेरी)

अजी बोले पदम नापनी या। गिर बालक मेरो ने मयो। देव लोक पाताल में भी राजा सत्य बखाने लोग। या कारण हम आविया तो कई दिखूं बन रही जोग ॥ १ ॥ अजी बोले० ॥

(बोल राजा हरिचंद)

—•—

(रंगत झकेरी)

अरे म्हारा महल अपाड़ी सुन्दर कौन बसी पूरी बाद के ॥ टेक ॥ बोल बोल

सुन्दर कुछ बोलो बोल्या है सब होय। बिना किये दूसरे के दिल की क्या जानेगा कोय। मरे म्हारा महल ० ॥

(बोल नागनी को)

—•—

कोड़ी मित्र बिछड़ा पड़ग्या सो राजा तुम्हीं मिलावन हार। उठ राजा क्यों बैर सवाई सबकुलीसभी हलकार ॥ मजी बोल ॥

(बोल राजा को)

—•—

बड़ो बोल हम को लागे मैं हूं धूल समान। भर निद्रा में चमक उठाई दुख सुख सुन तो काम ॥

(बोल नागनी को)

—•—

हाथ जोड़ परजी करूं सो राजा सठ का नाम घुड़ाय। इतनो पुण्य पस्त तम बांधी म्हाने मूरख मोड़ाय ॥ २ ॥

(बोल राजा को)

—•—

जग मांगों तो मग हम देवां तन मांगों तो तैयार। देस छोड़ परदेस विरोमा तम कहूं ललकार ॥ मरे म्हारा महल मनाड़ी ॥ ३ ॥

(बोल नागनी को)

—•—

सदी खायें कदम के नीचे पिय सूता था सुख सेज। भारी भिर नाचन नू मैं पग्यो खिर गयी मूरज तेज ॥ ४ ॥

(बोल राजा को)

—•—

सेष नाग पाताल को सो बा को सच्चा कर की रूप। सब कहूं दो मामें हो यहां से हम सतवादी भूप ॥ ५ ॥



नाच की प्रमुख धुन

बोल　　पियुजी हमारा पीला
　　　पियुजी पधारे परदेस
　　　　मरे आगम का तो बिछावा भी

स्वर-मालिका

नि नि नि नि नि सां सां सां रें सां नी सां सां
पि यु ऽ जी ऽ ह मा ऽ रा पी ऽ मा ऽ

ध नी ध ऽ प म ग म प रे सा प म ध म
पि यु ऽ ऽ जी ह मा ऽ ऽ रा ऽ पि यु जी ध

रे रे रे रे मरे म म प प प प
पाऽऽ रेऽऽ प र दे ऽ ऽ स

सां म रे सारेसा नी प नी, प पधप
म रे ऽ आऽऽ ग म ऽ ऽ काऽऽ

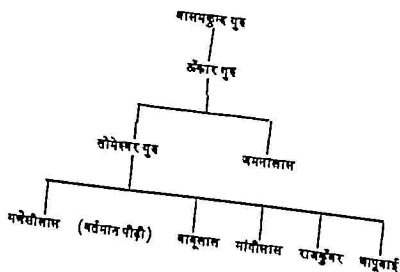
प ध म प म प ध म ग रे सा रे
ऽ ऽ जी ऽ ऽ बि छा वां ऽ ऽ ऽ ऽ

सा सा सा सा
जा ऽ ऽ ऽ

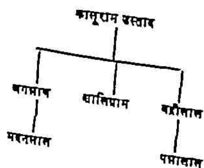


५ बालमुकुन्द गुरु और कालूराम उस्ताद की वंश-तालिका

(१)



(२)



६ चन्द्रसखी रचित गीति-नाट्य

(पृष्ठभूमि)

गढ़ मथुरा सूँ चली गूजरी
बिंदराबन में आई, मेरा राम ।
आगे ए साँवरियो मारग
रोक लियो हरे राम ॥

(कृष्ण)

खड़ी रे गूजरी खड़ी रे गुवालन
खड़ी रे ए बिंदराबन नार ।
महीड़ा री एक दहीड़ा रो
दाम ए दे ज्यावो हरे राम ॥

(गोपी)

दाम न लाडू दाम न पेड़ा
दाम न मिश्री छुहारी मेरा राम ।
महीड़ा री एक दहीड़ा री
दाम ए ना देवाँ हरे राम ॥

(कृष्ण)

दाम ए लाडू दाम न पेड़ा
दाम न मिश्री छुहारी मेरा राम ।
महीड़ा री एक दहीड़ा री
दाम न ना छोड़ाँ हरे राम ॥

(भावात्मक नृत्य)

मटकी भी फोड़ी कान्हो महीड़ो ढुंळायो
माखन मौंप लगायो मेरा राम ।
ईंडुणी ए क ईंडुणी ताल में
बुहाय दीनी हरे राम ॥
हार तुड़क लियो चीर झटक लियो
मोतियन की लड़ तोड़ी मेरा राम ।
चोरे ए चूंदे पर बाँवरो
मन दीन्यो हरे राम ॥

(दृश्य परिवर्तन)

विदराबन सैं भाल गूजरी
मइ गोकल में भाई, मेरा राम ।

म्याई रे नंदजी की पोळी
भोममा हरे राम ॥

(मापी)

सुण सुण ए म्हारी मात जसोदा
सुण नंदजी की राणी मेरा राम ।

ऐसो ए उदमाद्यो कान्हो
के जायो हरे राम ॥

(यशोदा)

कोई थारो तोड़यो कोई थारो फाड़यो
कोई थारो करयो उजाड़ो मेरा राम ।

तूं क्यूं ए गूजर को दे छै,
ओलमा हरे राम ॥

(गोपी)

मटकी भी फोड़ी कान्हो महिड़ो म्हैंकायो
माखन भोग लगायो मेरा राम ।

ईंडुणी एक ईंडुणी बस में
सुहाग बीनी हरे राम ॥

मोरे ए पूँच पर सांवरो
मल दीन्यो हरे राम ॥

(यशोदा)

घर जा ए गूजरी घर जा गुवालण
घर जा ए वेंदराबन नार ।

म्हारै ए कानुड़ा सूं मी
भोममो हरे राम ॥

(दृश्य परिवर्तन)

सांझ पड़ी दिन आथण लाग्यो
कान्ह, मऊ से आया मेरा राम ॥

(यशोदा)

थाई रे कानुड़ा तेरा
ओलमा, हरे राम ।

घर तेरे माखन घर तेरे महिड़ो
घर तेरे निरख पनेरी मेरा लाल ।

एसो रे पिलमाया मालन
क्यूं खायो हरे राम ॥

घर तेरे राधा घर तेरे रुकमण
घर तेरे सीता सी नार, मेरा लाल ।

ऐसी रे मनमानी गूजरी
क्यूं छेड़ी हरे राम ॥

(कृष्ण)

विन्द्राबन की कुंज गलिन में
बैठयो धेनु चराऊं मोरी माय ।

बैठी ए मामी के ठोकर,
क्यूं मारी हरे राम ॥

(कवि वचन)

मनहरणी मन बाल कृष्ण छवि
हरख निरख सुख पाऊं मेरा राम ।

मूठी ए मुखरकी स्याई,
मोसमा हरे राम ॥



७ प्रकाशित ख्याल

श्री अगरचंद नाहटा द्वारा प्रस्तुत सूची (लोककला भाग १ अंक दो सन् १९५४ से उद्धृत)

(क) अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में संग्रहीत –

१ अमरसिंहजी को बड़ो ख्याल मातीलाल गंगाराम प्रतापजी सतारा वालमा। २ अमरसिंह हाड़ी रानी को ख्याल उजीर शर्मा बंबटाइर प्रेस बंबई। ३ अरब चूने का ख्याल गणेश बंध लाला बंशीधर बुकसेली आगरा। ४ असर गुलाब का ख्याल पंसारीलाल मंबराम ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। ५ (राजा) अमरसिंह का ख्याल (कुमार केसरसिंह को ख्याल) भारत हिन्दू पुस्तकालय मथुरा। ६ राजा केसरसिंह का ख्याल पं० बंशीधर शर्मा किशनगढ़। ७ श्रीमजी भामसदे का बड़ा ख्याल सहायक मनवालराम नीमच निवासी जमुना प्रिंटिंग वर्क्स मथुरा। ८. श्रीमजी भामसदे का ख्याल श्याम काशी प्रेस मथुरा। ९ श्रीमजी भामसदे का ख्याल भानुलाल श्रीधर शर्मा किशनगढ़। १ श्रीमें भामम की ख्याल ज्ञानसागर प्रेस बंबई। ११ गोपीचंद का ख्याल मोतीलाल (शाके १७६२) हरिलाल मन महाप्रभाकर, बंबई। १२ गोपीचंद राजा का ख्याल आदर्श हिन्दू पुस्तकालय मथुरा। १३ गोपीचंद राजा का ख्याल हिन्दी पुस्तकालय मथुरा। १४ चन्दी मेंघ राजा को ख्याल भानुराम राणा ज्ञानसागर प्रेस बंबई। १५ चंदमलियागिर को ख्याल कवि नन्दीराम कुशालजी भारत हिन्दू पुस्तकालय मथुरा। १६ ढेमा पनिहारी का ख्याल ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। १७ एनदम बंगाली को ख्याल भानुराम चिड़ावे वाला ज्ञानसागर प्रेस बंबई। १८. अमरेस बंगाली को ख्याल भानुराम चिड़ावे वाला संतुरामजी सुन्दरमल बंबई। १९ अमरेस बंगाली का ख्याल भानुराम चिड़ावे वाला श्याम काशी प्रेस मथुरा। १९ भर्तृहरि का ख्याल तेज कवि बीरा किसनलाल जैसलमेर। २० जोगी भर्तृहरि का ख्याल तेज कवि बीरा किसनलाल जैसलमेर. २१ जोगी भर्तृहरी का ख्याल तेज कवि किशोरीलाल रतन मल जैसलमेर। २२ डूंगरसिंह का ख्याल ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। २३ काला-मस्तान का ख्याल सरगुणा हिन्दी पुस्तकालय मथुरा। २४ दा गा ो का बालमा ख्याल पंसारीलाल मंबराम नीमच हिन्दी पुस्तकालय मथुरा। २५. भुवजी का ख्याल भानुराम ज्ञानसागर प्रेस मुंबई। २६ नगर भोजाई का ख्याल नापू ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। २७ नगराजा का ख्याल भानुलाल रामो ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। २८. मामजी मारवाड़ी ख्याल ईश्वरलाल बुकसेलर जयपुर। ३० रानी निहालदे और कुंवर सुलतान का ख्याल पं० किशनलाल बाद रामचंद नीमच। ३१ रानी निहालदे और कुंवर सुलतान का ख्याल पं० किशनलाल ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। ३२ गढ़म का खेल तेज कवि बस्तावरराम जंदानी जैसलमेर। ३३ पदधूता रानी का ख्याल या ख्याल माला रावी को मनफूलदास हिन्दी पुस्तकालय मथुरा। ३४ पमा बीरमदे को ख्याल पंसारीलाल मंबराम नीमच ईश्वरलाल

बुकसेलर, जयपुर। ३५ पूरण भगत का ख्याल। ३६ पूरणमल को ख्याल हरचंद राम ईश्वरलाल बुकसेलर जयपुर। ३७ पूरणमल का मारवाड़ी खेल पं० बंशीधर शर्मा प्र० बंशीधर शर्मा कीड़वाना। ३८ प्रणवीर राठौड़ पाबूजी राठौड़ मारवाड़ी खेल पं० बंशीधर शर्मा पं० बंशीधर शर्मा कीड़वाना। ३९ बूढ़ा बनड़ा का ख्याल, जगन्नाथ उपाध्याय पं० पीयूलालात्मज जगन्नाथ उपाध्याय कड़क्का चौक अजमेर। ४० बूढ़ा बालम का ख्याल नंदराम ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। ४१ पनियारे लागेरे का ख्याल पंसारी लाल नंदराम कन्हैयालाल स्टाम प्रेस आगरा। ४२ मालदे हाड़ी रानी को ख्याल मंगीर हसी ज्ञानसागर प्रेस बंबई। ४३ मूमल महेंद्रे का खेल तेज कवि (श्रीमाली ब्राह्मण) जगन्नाथ तुलसीचंद मस्ता जैसलमेर। ४४ मोरध्वज कड़ी ख्याल प्रेमसुख ज्ञानसागर प्रेस बंबई। ४५ मोरध्वज को ख्याल बड़ा पं० किशनलाल नसीराबाद ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। ४६ राजा रिसालू को ख्याल बालीराम ज्ञानसागर प्रेस, बंबई। ४७ राजा रिसालू नौपदे का ख्याल, बालीराम ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। ४८ राजा रिसालू नौपदे को ख्याल बाली-राम हिन्दी पुस्तकालय मथुरा। ४९ लैला मजनू पाक मुहब्बत का ख्याल नानूलाल, श्याम काशी प्रेस मथुरा। ५० शीलो सतवंती का ख्याल पं० किशनलाल मुस्तानमल प्रिंटिंग प्रेस ५१ सत्यनारायण व्रत कथा मारवाड़ी खेल पं० बंशीधर, प्र० बंशीधर कीड़वाना। ५२ सभापर्व अर्थात श्रीकृष्ण ख्याल नानकलाल राणा ५३ सील कमर गुलबुल खानम्या का ख्याल हरीकरण मिश्र हरिप्रसाद भागीरथ बंबई। ५४ सुलतान मरवण भाट का ख्याल कीरतां तेली ईश्वरलाल बुकसेलर जयपुर। ५५ सूरज कुंवर का ख्याल फतहचंद ईश्वरलाल बुकसेलर जयपुर। ५६ (सत्यवादी राजा) हरिश्चंद का बड़ा ख्याल पं० किशनलाल मुस्तानमल प्रिंटिंग प्रेस नीमच। ५७ (सत्यवादी राजा) हरिश्चंद का बड़ा ख्याल पं० किशनलाल श्याम काशी प्रेस मथुरा ५८ हीर रांझे का ख्याल नानूलाल ईश्वरलाल बुकसेलर, जयपुर। ५९ हीर रांझा का ख्याल नानूलाल राणा राम प्रेस काटन स्ट्रीट कलकत्ता।

(ख) खत्री भीकमचंद, जोधपुर द्वारा प्रकाशित ख्यालों की सूची —

१ अमरबल मरवरी ख्याल। २ अमरसिंह राठौड़ ख्याल। ३ अमरसवार की ख्याल। ४ आसावरी को ख्याल। ५ कलयुग को ख्याल। ६ काछी जेठूवा की ख्याल। ७ केसरसिंह को ख्याल। ८ खीमजी आभलदे को ख्याल। ९ गोगा चौहान को ख्याल। १० गोपीचंद की ख्याल। ११ चंद मलयागिरि को ख्याल। १२ चंद्रसेन की ख्याल। १३ छोटा कंथ की ख्याल। १४ ढैला बिसवास की ख्याल १५. ढैला पनिहारी की ख्याल। १६ जयदेव कंकाली को ख्याल। १७ जोहरी का ख्याल। १८ डूंगरसिंह को ख्याल। १९ ढोलामारू को ख्याल। २० देवर भोजाई की ख्याल। २१ दो मोरी के बालम को ख्याल। २२ ध्रुव भक्त को ख्याल। २३ नणद भोजाई को ख्याल। २४ नरसी महेता को ख्याल। २५ नामजी नागवंती को ख्याल। २६ निहालदे सुलतान को ख्याल। २७ निहालदे मारवाड़ी की ख्याल। २८. नोटंकी मारवाड़ी को ख्याल। २९. पना वीरमदे को ख्याल। ३० पारस पी-तांबर को ख्याल। ३१ पृथ्वीराज को ख्याल। ३२ प्रह्लाद चरित्र को ख्याल। ३३ बणजारा को ख्याल। ३४ बनलीमा को ख्याल। ३५. बूढ़ा बालम को ख्याल

३६ मूमिया मटियारण को ख्याल । ३७ (राजा) भरथरी को ख्याल । ३८ मीरा मंगल का ख्याल । ३९ रतन कुंवर को ख्याल । ४० रामसीता को ख्याल । ४१ (राव) रिड़मल को ख्याल । ४२ (राजा) रिसालू को ख्याल । ४३ रिसालू बासवदे का ख्याल । ४४ विक्रमादित्य को ख्याल । ४५ विजयसिंह का ख्याल । ४६ मदन कुमार को ख्याल । ४७ सुरबुद्ध सोबलिङ्गा को ख्याल । ४८ सूरसिंदवर को ख्याल । ४९ सेठ सेठाणी को ख्याल । ५० सौमह सम्मदारे को ख्याल । ५१ मारु ढोला को ख्याल । ५२ राजा हरिश्चंद्र को ख्याल । ५३ हीर रांझा को ख्याल ।

(ग) पंडित बंशीधर डीडवाना निवासी रचित और प० श्रीधर शिवलाल, ज्ञानसागर छापाखाना किशनगढ़ द्वारा प्रकाशित (हमारी संग्रह सूची के अतिरिक्त)—

१ अमरसिंह को ख्याल । २ अमरसिंह हाड़ी रानी का ख्याल । ३ गोपीचंद को ख्याल । ४ गोपीचंद का ख्याल (बगवाड़ी रंगत) ५ चंद मलियागिरि को ख्याल । ६ जयदेव कंकाली को ख्याल । ७ तमाशा का ख्याल (संवाद) ८ दयाराम धाड़वी को ख्याल । ९ नारायण चरित को ख्याल । १० नरसी मेहता को ख्याल । ११ निहालदे सुलतान को ख्याल । १२ पद्म फूलारानी को ख्याल । १३ प्रमवीर राठौड़ पाबूजी को ख्याल । १४ बगड़ावत भारत का खेल । १५ राठौड़ पाबूजी का खेल । १६ रामदेवजी का खेल । १७ रिसालूलाल का खेल । १८ रुक्मणी मंगल का खेल । १९ रुक्मणी स्वयंवर का खेल । २० रुक्मणी हरण का खेल । २१ वीरवर चाट हेमाजी का खेल । २२ शाहजादे का बड़ा ख्याल (नादरमल) । २३ सती हेमकुंवर का ख्याल । २४ हेमकुंवर चरित का ख्याल ।

(घ) खेमराज श्री कृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित (हमारे संग्रह के अतिरिक्त)—

१ अष्टपदी को ख्याल । २ आयक गनवनी का ख्याल । ३ आगाहाली को ख्याल । ४ इंद्र सभा का बड़ा ख्याल । ५ इस्तवाद गनवालिम का ख्याल । ६ उषा अनिरुद्ध का ख्याल । ७ निवा आमन का ख्याल । ८ गुलबहार मावनी का ख्याल ९. गोपीचंद का ख्याल (गोपीराम) १० गोपीचंद का ख्याल (प्रहलाद राम) । ११ चकवा बैन का ख्याल । १२. जगमालु का ख्याल । १३ जसरपंवर का ख्याल । १४ जैसकुंवर चाह कुंवर का ख्याल । १५. ढोला निमजाम का ख्याल । १६ ढोला पनिहारिन का ख्याल । १७ छोटे चंप का ख्याल । १८. जयदेव कंकाल का ख्याल १९. जैमल फत्ता का ख्याल । २० चौहर का ख्याल । २१ डूंगजी जवारजी का ख्याल । २२ ढोला मरवण का ख्याल । २३ ढाला सुलतान निहालदे का ख्याल । २४ दयाराम धाड़वी का ख्याल । २५. तुमा धाड़वी का ख्याल । २६ मुकजी का ख्याल । २७ पन्ना शाहजादे का ख्याल । २८ पन्ना वीरमदे का ख्याल । २९ बादशाह शाहजादी का ख्याल । ३० पूरणमल भगत का बड़ा ख्याल । ३१ पृथ्वीराज का ख्याल । ३२ सेठ सेठाणी का ख्याल । ३३ फूलकुंवर फूलवती का ख्याल ।

७ ख्याल मासाडाबी पचफूला। ८ ख्याल सिंहासदे। ९ ख्याल रिसालू मोपदे। १० ख्याल हीर रांझे का। ११ ख्याल छैंपा पनहारी का। १२ ख्याल समीचर का।

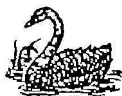
(ङ) रामलाल नोपाणी, ९७ काटन स्ट्रीट, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित (हमारे प्रतिरिक्त)–

१ ममसदार का ख्याल। २ इन्द्र सभा का ख्याल। ३ हीर रांझा का ख्याल। ४ जगदेव कंकाली का ख्याल। ५ चन्द्रप्रताप का ख्याल। ६ मालदे हाडी राणी का ख्याल। ७ हकीम गरमीवाला का ख्याल। ८ बीरमदे सोनगरी का ख्याल। ९ चंवरकंवर फूलकंवर का ख्याल। १० राजा भोज भानुमती का ख्याल। ११ पूरणमल भक्त का ख्याल। १२ डाला मरवण का ख्याल। १३ छोटा कंथ का ख्याल। १४ गुरी खतराणी को ख्याल। १५ चवला बैच को ख्याल। १६ ख्याल कलिजा हमु को ख्याल। १७ साहिब तू सच्च को ख्याल। १८ सेठ मुनीम को ख्याल। १९ सहजादे को ख्याल। २० लैला मजनू को ख्याल। २१ मदनसेन चंदकिरण को ख्याल।

(च) उपरोक्त प्रकाशकों के प्रतिरिक्त —

बाबू हीराचंद नीमच। लोक साहित्य सदन जयपुर। विद्या बुक डिपो मथुरा। पुस्तक मंदिर, मथुरा। पूरणनाथ पुस्तकालय जयनाथ हुकमचंद खत्ता जैसलमेर। किशोरीलाल सत्ययमल जैसलमेर। मंगाराम प्रतापजी मथारा जालमा। किस्ताम विलास चंदाणी जैसलमेर। पं० जगन्नाथ उपाध्याय अजमेर। रामनारायण तिवारी कलकत्ता। भारतीय हिन्दू पुस्तकालय मथुरा। श्यामलाल हीरालाल श्याम काशी प्रेस मथुरा। जमना प्रिन्टिंग वर्क्स मथुरा इत्यादि-इत्यादि कई प्रकाशक हैं।

•



८. दिल्ली की रासलीला के संचालकों की परम्परा

महंत राधोदास
|
चतुर्भुज
|
निरंजनदास
|
रघुबरदयाल
|
जयराम
|
लक्ष्मीनारायण
|
(वर्तमान)
रामनारायण
श्यामसुन्दर
रामनाथ

सकती है । एक तो कुछ घूमने-फिरने वाली नाटक मंडलियों की स्थापना सरकारी खर्च से ही करे । ये मंडलियां देहातों में घूम-घूम कर अच्छे नाटकों का प्रदर्शन करें, रंगमंच इनका भी सीधा-सादा हो नाटकों का रूप भी लोक परम्परा का अनुगामी हो । जहां जहां ये मंडलियां जायेंगी एक नवीन रंगमंच का नमूना देहाती जनता के सामने पेश कर देंगी । उनके अनुकरण में न सिर्फ व्यावसायिक मंडलियां उसी ढंग के नाटक खेलने लगेंगी बल्कि देहातों में स्थायी रंगमंचों की भी स्थापना होने लगेगी । इन मंडलियों की साल भर में एक बार ट्रेनिंग का भी प्रबन्ध होना चाहिये । दूसरी बात जो सरकार के द्वारा की जा सकती है वह लोक रंगमंच के महोत्सवों का आयोजन । ऐसे महोत्सव अलग-अलग इलाकों में हों तो अच्छा है । उत्सवों में प्रतियोगिता और पुरस्कार का आयोजन होना चाहिये । बिहार सरकार ने लोक मंडलियों[१] के नाम से घूमने-फिरने वाली नाटक मंडलियों का संगठन किया है, और वर्ष में एक बार प्रादेशिक रंगमंच महोत्सव को भी चालू किया है ।

पिछले पच्चीस वर्षों में लोक-नृत्य और लोक-संगीत की ओर संस्कृति प्रेमी व्यक्तियों का ध्यान गया है और नगरों में उनका प्रचार भी बहुत कुछ हुआ है । किन्तु लोक-रंगमंच जैसी चीज की स्थापना करने की कोई योजना हमारी नजर में नहीं आई । लोककला को नगर और सभ्य कही जाने वाली जनता के सामने रख देना एक बात है और जन जीवन के बीच में उन्हीं के मनोरंजन और उन्हीं की सम्पूर्ण अभिव्यंजना का आयोजन करना दूसरी बात । गांव से नगरों की ओर दौलत भी खिंची उसकी मोती के साथ भी खिंचे उसकी धरती के गीत भी उड़े । क्या यह नहीं हो सकता कि उन गीतों की पौध उसी धरती में जमे फले फूले और लोक-जीवन को आनंद रस से सराबोर करे ?



१ मध्यप्रदेश के समाज सेवा विभाग ने भी 'कलापथक' नाम से हर जिले में ऐसी मण्डलियां बनायी हैं ।

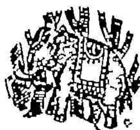
१० नौटंकी संबंधी लोककथा

डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश ने नौटंकी के विषय में कुछ ज्ञान योग्य बातें प्राप्त की हैं। आपका कथन है कि नौटंकी एक प्रेम-कथा है। आधार रूप में पंजाब की एक लोक कथा इस प्रकार है —

"नौटंकी नाम की एक राजकुमारी थी जो वैसी ही प्रसिद्ध थी जैसी सिंहल द्वीप की पद्मिनी। हुआ यह कि एक बार शिकार से लौटकर फूलसिंह नामक युवक ने अपनी भाभी से पीने का ठंडा पानी, नहाने को पानी, खाने को खान-पान और हुक्का भर कर तैयार करने को कहा। भाभी को देवर के कहने का ढंग अच्छा न लगा और उसने कह दिया कि कौन नौटंकी ब्याह कर ले आए हो जो ऐसा हुक्म चलाते हो। मैं तुम्हारी बांदी नहीं बनती कि हुक्म बजाने के लिये खड़ी रहूं। भाभी के ये वचन युवक को तीर की तरह लगे और उसने प्रतिज्ञा की कि नौटंकी ब्याह कर ही घर लौटूंगा। घर से चला तो भाभी को भूल मालूम हुई। उसने पश्चात्ताप किया और क्षमा मांगी। नौटंकी के लाने की कठिनाइयों का उल्लेख किया पर फूलसिंह दृढ़प्रतिज्ञ रहा। इसके बाद तो भाई, माता पिता मित्र आदि सबने समझाया पर नौटंकी का दीवाना फूलसिंह रोके न रुका। दो कुत्तरियों में मोहरें भर कर वह घोड़े पर चढ़ कर चल दिया और नौटंकी के बाग में जा पहुंचा। मालिन को रिश्वत देकर उसने बाग में स्थान पाया और मालिन के नाम स्वयं राजकुमारी नौटंकी के लिये माला गूंथी जिस में जवाहरात जड़ दिये। मालिन उस हार को देर से लेकर गई तो नौटंकी क्रोध से आग-बबूला हो गई। मालिन से बहुत पूछने पर उसने भेद नहीं बताया और अपने लड़के की बहू को उस हार के गूंथने का श्रेय दिया। नौटंकी ने हुक्म दिया कि बहू को सामने लाया जाये। मालिन के होश उड़ गए। बाग में लौटकर उसने फूलसिंह से सब हाल कहा। अन्त में फूलसिंह स्त्री बनकर महल में गया। स्त्री रूप में फूलसिंह नौटंकी से कम सुन्दर न था। नौटंकी ने उसे सहेली बनाकर एक ही सेज पर सोने का अधिकारी बना दिया। फूलों से सेज सजाई गई। दोनों एक साथ सोए। बातचीत के दौरान में फूलसिंह ने नौटंकी से कुमारी रहने का कारण पूछा तो उसने अपने योग्य वर न मिलने की युक्ति दी और इच्छा प्रकट की कि यदि हम दोनों में कोई मर्द हो जाये तो बड़ा ही आनन्द की बात हो। इस पर फूलसिंह ने इष्टदेव को मनाकर यह वरदान मांगने को कहा कि हम में से कोई मर्द हो जाय। नौटंकी ने वैसा ही किया और फूलसिंह अपने असली रूप में प्रस्तुत हो गया। नौटंकी को जब बात मालूम हुई तब वह घबराई पर अब क्या हो सकता था। खबर राजा तक गई। फूलसिंह गिरफ्तार कर लिया गया और फांसी के तख्ते पर चढ़ाया गया। नौटंकी अर्थात् फिर मर्दाना वेष धारण कर तख्त-ए-दम पर आ गई। जैसे ही जल्लादों को राजा ने मारने का हुक्म दिया नौटंकी मर्दाना वेष उतारकर अपने असली

सकती है। एक तो कुछ घूमने-फिरने वाली नाटक मंडलियों की स्थापना सरकारी खर्च से ही करे। ये मंडलियां देहातों में घूम-घूम कर अच्छे नाटकों का प्रदर्शन करें, रंगमंच इनका भी सीधा-सादा हो नाटकों का रूप भी लोक परम्परा का अनुगामी हो। जहां जहां ये मंडलियां जायेंगी एक नवीन रंगमंच का नमूना देहाती जनता के सामने पेश कर देंगी। उनके अनुकरण में न सिर्फ व्यावसायिक मंडलियां उसी ढंग के नाटक खेलने लगेंगी बल्कि देहातों में स्थायी रंगमंचों की भी स्थापना होने लगेगी। इन मंडलियों की साल भर में एक बार ट्रेनिंग का भी प्रबन्ध होना चाहिये। दूसरी बात जो सरकार के द्वारा की जा सकती है वह लोक रंगमंच के महोत्सवों का आयोजन। ऐसे महोत्सव अलग-अलग इलाकों में हों तो अच्छा है। उत्सवों में प्रतियोगिता और पुरस्कार का आयोजन होना चाहिए। बिहार सरकार ने लोक मंडलियों[१] के नाम से घूमने-फिरने वाली नाटक मंडलियों का संगठन किया है, और वर्ष में एक बार प्रादेशिक रंगमंच महोत्सव को भी चालू किया है।

पिछले पच्चीस वर्षों में लोक-नृत्य और लोक-संगीत की ओर संस्कृति प्रेमी व्यक्तियों का ध्यान गया है और नगरों में उनका प्रचार भी बहुत कुछ हुआ है। किन्तु लोकरंगमंच जैसी चीज की स्थापना करने की कोई योजना हमारी नजर में नहीं आई। नाट्यकला को नगर और सभ्य कही जाने वाली जनता के सामने रख देना एक बात है और जन जीवन के बीच में उन्हीं के मनोरंजन और उन्हीं की सम्पूर्ण अभिव्यंजना का आयोजन करना दूसरी बात। गांव से नगरों की ओर चौपाल भी खिंची उसकी पोथी के साथ भी खिंचे उसकी धरती के गीत भी चले। क्या यह नहीं हो सकता कि उन गीतों की पौध उसी धरती में जमे फले फूले और लोक-जीवन को आनंद रस से सराबोर करे?



१ मध्यप्रदेश के समाज सेवा विभाग ने भी 'कलापथक' नाम से हर जिले में ऐसी मण्डलियाँ बनायी हैं।

१० नौटंकी संबंधी लोककथा

डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश ने नौटंकी के विषय में कुछ जान योग्य बातें प्राप्त की हैं। आपका कथन है कि नौटंकी एक प्रेम-कथा है। आधार रूप में पंजाब की एक लोक कथा इस प्रकार है —

"नौटंकी नाम की एक राजकुमारी थी जो वैसी ही प्रसिद्ध थी जैसी सिंहल द्वीप की पद्मिनी। हुआ यह कि एक बार शिकार से लौटकर फूलसिंह नामक युवक ने अपनी भाभी से पीने का ठण्डा पानी नहाने को पानी खाने को दाल-चावल और हुक्का भर कर तैयार करने को कहा। भाभी को देवर के कहने का ढंग अच्छा न लगा और उसने कह दिया कि कौन नौटंकी ब्याह कर ले आये हो जो ऐसा हुक्म चलाते हो। मैं तुम्हारी टहलवा नहीं दासी कि हुक्म बजाने के लिए खड़ी रहूं। भाभी के ये वचन युवक को तीर की तरह लगे और उसने प्रतिज्ञा की कि नौटंकी ब्याह कर ही घर लौटूंगा। घर से चला तो भाभी को भूल मालूम हुई। उसने पश्चात्ताप किया और क्षमा मांगी। नौटंकी के लाने की कठिनाइयों का उल्लेख किया पर फूलसिंह दृढ़प्रतिज्ञ रहा। इसके बाद तो भाई, माता पिता, मित्र आदि सबने समझाया पर नौटंकी का दीवाना फूलसिंह रोके न रुका। दो कुप्पियों में मोहरें भर कर वह घोड़े पर चढ़ कर चल दिया और नौटंकी के बाग में जा पहुंचा। मालिन को रिश्वत देकर उसने बाग में स्थान पाया और मालिन के बदले स्वयं राजकुमारी नौटंकी के लिये माला गूंथी जिस में जवाहरात जड़ दिये। मालिन उस हार को ले कर गई तो नौटंकी क्रोध से आग-बबूला हो गई। मालिन से बहुत पूछने पर उसने भेद नहीं बताया और अपने लड़के की बहू को उस हार के गूंथने का श्रेय दिया। नौटंकी ने हुक्म दिया कि बहू को सामने लाया जाये। मालिन के होश उड़ गये। बाग में लौटकर उसने फूलसिंह से सब हाल कहा। अन्त में फूलसिंह स्त्री बनकर महल में गया। स्त्री रूप में फूलसिंह नौटंकी से कम सुन्दर न था। नौटंकी ने उसे सहेली बनाकर एक ही सेज पर सोने का अधिकारी बना दिया। फूलों से सेज सजाई गई। दोनों एक साथ सोये। बातचीत के दौरान में फूलसिंह ने नौटंकी से कुमारी रहने का कारण पूछा तो उसने अपने योग्य वर न मिलने की मुश्किल दी और इच्छा प्रकट की कि यदि हम दोनों में कोई मर्द हो जावे तो क्या ही आनन्द की बात हो। इस पर फूलसिंह ने इष्टदेव को मनाकर यह वरदान मांगने को कहा कि हम में से कोई मर्द हो जाय। नौटंकी ने वैसा ही किया और फूलसिंह मर्द के रूप में प्रस्तुत हो गया। नौटंकी को जब बात मालूम हुई तब वह घबराई पर अब क्या हो सकता था। खबर राजा तक गई। फूलसिंह गिरफ्तार कर लिया गया और फांसी के तख्त पर चढ़ाया गया। नौटंकी प्रेमी के लिए मर्दाना वेश रखकर वध-स्थान पर आई। जैसे ही जल्लादों को राजा ने मारने का हुक्म दिया नौटंकी मर्दाना वेश उतारकर आन पहुंची

रूप में आ गई। उसने जल्लादों को धक्का देकर नीचे गिरा दिया और नंगी तलवार लिये पिता के सामने आकर कहने लगी कि या तो इसे क्षमा कीजिये या स्वयं मरने को उद्यत हो जाइये। राजा को बेटी की बात माननी पड़ी। पंडित बुलाकर दोनों की शादी कर दी गई। फूलसिंह नौटंकी को लेकर घर आया।"

ब्रज में नत्थाराम शर्मा गौड़ की लिखी हुई "संगीत नौटंकी शहजादी उर्फ धम्मारा पीरठ' को नौटंकीबाज असली नौटंकी मानते हैं। प्रेम का जो रूप उक्त लोककथा में उपलब्ध है उसका स्वरूप बहुत कुछ प्रेमाख्यानकों-सा है।



रूप में आ गई। उसने जल्लादों को धक्का देकर नीचे गिरा दिया और नंगी तलवार लिये पिता के सामने आकर कहने लगी कि या तो इसे क्षमा कीजिए या स्वयं मरने को उद्यत हो जाइए। राजा को बेटी की बात माननी पड़ी। पंडित बुलाकर दोनों की शादी कर दी गई। फूलसिंह नौटंकी को लेकर घर आया।"

ब्रज में नत्थाराम शर्मा गौड़ की लिखी हुई "संगीत नौटंकी शहजादी उर्फ मम्माद्य मीरत' को नौटंकीबाज असली नौटंकी मानते हैं। प्रेम का जो रूप उक्त लोककथा में उपलब्ध है उसका स्वरूप बहुत कुछ प्रेमाख्यानकों-सा है।

